जानकी की पवित्रता के लिये वाल्मीक जी की शपथ

जानकी की पवित्रता के लिये वाल्मीक जी की शपथ

श्री भागवत-दर्शन ::-

भागवती कथा

(इकतीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'।

लेखक

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

तृतीय संस्करण १००० } आश्विन सं० २०२७ { मूल्य [illegible] रु. ५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।

विषय-सूची

इकतीसवाँ खण्ड

—०—

जगज्जननी जानकी जी का भू प्रवेश

[७०१]

मुनौ निक्षिप्य तनयो सीता भर्त्रा विवासिता ।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेशह ॥*
(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

*अश्वमेघ को अश्व पकरि लव कुश ने लीन्हों।
नहिं छोड्यो नहिं डरे समर डटि के तिन कीन्हों॥
पुनि मुनि सँग मख गये राम की कथा सुनाई।
जानि तनय निज राम जनक तनया बुलवाई॥
सकुची सिकुड़ी लाजतें, मुनि पाछे श्रुति सरिस सिय।
जनु करुणा सँग शान्तरस, चलहिं रामपद धारि हिय॥*

हे भगवन्! तुमने संसार में प्रेम की सृष्टि क्यो की। यदि प्रेम के बिना तुम्हारा काम नहीं चलता था, तो फिर व्यर्थ में वियोग का विष, बीच में क्यों बो दिया। वियोग आवश्यक ही था, तो फिर संयोग क्यो कराया, जीने की इच्छा क्यो रहने दी। ये सब ही आवश्यक थे, तो फिर लोकलाज, मर्यादा, कर्तव्य-परायणता आदि के पचड़े क्यो उपस्थित किये। प्रेमी को पग-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पति से निर्वासिता सीता अपने दोनो पुत्रो को भगवान् वाल्मीकि जी को सौंपकर श्री रामचन्द्रजी के युगलचरणों का ध्यान करती हुई पृथ्वी के विवर मे समा गई।

पग पर इनके द्वारा पिसना पड़ता है। प्रेम ऐसा राजयोग है, कि वह जीवन भर छूटता नहीं, नेह का नाता टूटता नहीं, प्राण निकलते नहीं घुट-घुट कर मरना पड़ता है। तड़प-तड़प कर जीवन बिताना पड़ता है, मान अपमान लोकापवाद सभी कुछ प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये सहन करने पड़ते हैं। छुई-मुई से सुकुमार हृदय में जब अपना ही प्रेमास्पद पाषाणों से निर्दयता पूर्वक प्रहार करता है, तो हाय! उन्हें भी सहना पड़ता है। दैवकी कैसी विडम्बना है। कैसा यह कंटकाकीर्ण पथ है, कैसी इसकी वक्र गति है कैसी प्रेम की अटपटी चाल है। रोने में भी सुख और हँसने में भी उल्लास है। इसमें दुःख होता है या सुख कुछ कह नहीं सकते। सुख होता तो सब आँसू क्यों बहाते, निरन्तर रोते क्यों रहते। दुख होता, तो सभी करुण प्रसगों को इतने उल्लास से बार-बार क्यों सुनते। कवि इसी का बार-बार वर्णन क्यों करते। अतः कह नहीं सकते प्रेमजन्य विरह में सुख होता है या दुःख।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् वाल्मीकि के आश्रम में कुश लव का जन्म हुआ। मुनि ने शास्त्रीय विधि से उनके सब संस्कार किये। वे अश्विनी कुमारों के समान सुन्दर थे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान सभी आश्रमवासियों को सुख पहुँचाते हुए प्रतिदिन बढ़ने लगे। महामुनि वाल्मीकि ने उन्हें समस्त धनुर्वेद पढ़ा दिया। समस्त दिव्यास्त्रों का प्रयोग उपसंहार आदि उन्हें विधिवत सिखा दिया। उन्हें दिव्य धनुष, अक्षय तूणीर, ढाल तलवार तथा कवच मुनि ने दिये। जिस समय कवच पहिन कर, ढाल तलवार बाँधकर धनुषबाण धारण करके पीठ पीछे तूणीरों को लटका कर दोनों भाई साथ-साथ चलते, तो ऐसे प्रतीत होते मानों वीररस ने ही दो रूप धारण कर लिये हों। सीताजी उन्हें

देखती तो उन्हें भ्रम हो जाता मानों साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी ही आ रहे हों। दोनों बच्चों को देखते ही माँ को धनुषयज्ञ की याद आ जाती। धनुष भग के समय श्रीराम भी ऐसे ही थे। ऐसी ही उनकी उठन-बैठन बोल चाल और चितवन थी। दोनों बच्चे आकर माता से लिपट जाते और बडे प्यार से माँ कह कर पुकारते। तब सीताजी का हृदय भर आता और वे उनके मुख को चूम लेतीं। बच्चे पूछते—"माँ! हमारे पिता कौन हैं ?"

जानकी आँखों मे आँसू भर कर कहतीं—"बेटा! तुम्हारे माता-पिता दोनों ही भगवान वाल्मीकि हैं। मैं तो तुम लोगों की धाय हूँ। दयालु मुनि ने मुझे भोजन पर तुम लोगों के लालन-पालन के लिये रख लिया है।"

बच्चे कहते—"नहीं माँ! तुम झूठ बोलती हो। तुम ही हमारी प्यारी माँ हो। तुम ही हमारी सच्ची जननी हो। किन्तु माँ! अमुक ऋषिकुमार कहते थे—"तुम्हारे पिता बड़े निर्दयी हैं, उन्होंने तुम्हारी माँ को घर से निकाल दिया है ? क्या हमारे पिता यथार्थ मे निर्दयी हैं, क्या उन्होंने यथार्थ मे तुम्हें घर से निकाल दिया है ?"

यह सुन कर माता के धैर्य का बाँध टूटा जाता, किन्तु अपने को सम्हाल कर कहतीं-"ना बेटा ऐसे नहीं कहते हैं। तुम्हारे पिता निर्दयी नहीं हैं। वे मनुष्य तो हैं नहीं। वे तो देवता हैं। कभी तुम पर दया करे गे।"

फिर बच्चे पूछते हैं—"माँ! तू पिताजी की चर्चा करते ही दुखी हो जाती है, रोने लगती है, तुझे कोई मानसिक पीडा होती है, अतः हम तुमसे कभी भी पिताजी के सम्बन्ध में न पूछा करेंगे।"

इस प्रकार बच्चे अत्यन्त ही लाड चाव से बढने लगे।

जानकीजी उन दोनों सुंदर सुकुमार, तेजस्वी पराक्रमी बालकों को क्षत्रिय वेष में निहार कर प्रसन्न रहतीं, किन्तु उनके मनमें तो सदा श्रीरामचन्द्रजी की मन मोहनी मूर्ति नृत्य करती रहती। वे सदा उन्हीं की चिन्ता में निमग्न बनी रहतीं।"

इधर श्रीरामचन्द्रजी सीताजी के विरह में दुखी हुए, यज्ञ याग करके काल यापन करने लगे। मुनियों की आज्ञा से भगवान् ने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये थे। शत्रुघ्नजी ने लवणासुर को मार कर जब मथुरा में अपनी राजधानी बना ली। इसके उपरान्त भगवान की इच्छा राजसूय यज्ञ करने की हुई। उन्होंने अपनी इच्छा सभा में समस्त सभासद तथा छोटे भाइयों के सम्मुख प्रकट की। इसे सुनकर हाथ जोड़ कर भरतजी बोले—"प्रभो! आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके आज्ञाकारी अनुचर हैं, आप जो आज्ञा देंगे उसका पालन तो हमें करना ही है, किन्तु मेरी क्षुद्र बुद्धि में राजसूय जैसा अति हिंसात्मक यज्ञ आप को न करना चाहिये। सब राजाओं को मार काट अथवा अधीन करके तभी राजसूय यज्ञ किया जाता है। राजा तो सब प्रेम से ही आपके वश में हैं। फिर क्यों अकारण युद्ध किया जाय। राजसूय का नाम सुनते ही मानों राजा चिढ़ जाते हैं, वे सोचते हैं—"हमारे सम्मुख अमुक राजा सम्राट कैसे बने। आप तो बिना राजसूय के ही सबके हृदय सम्राट हैं, फिर राजाओं को भड़काना उचित नहीं। और भी तो बहुत से पुण्य प्रद यज्ञ याग हैं।"

यह सुनकर भरत जी की बड़ाई करते हुए श्री रामचन्द्रजी बोले—"भरत! तुम बड़े ही बुद्धिमान तथा मेरे परम प्रिय हो। तुम्हारा कहना यथार्थ है। अच्छी बात है, मैं तुम्हारे कहने से राजसूय का विचार छोड़ता हूँ। क्योंकि उचित बात बालक भी कहे, तो उसे मान लेना चाहिये। किन्तु अश्वमेध यज्ञ में तो कोई

दोप नहीं। इससे तो बडे २ पापों से मनुष्य छूट जाते हैं। ब्रह्महत्या लगने पर इन्द्र भी अश्वमेध करके पाप से विमुक्त हो गये थे। और भी सहस्रों राजे महाराजे अश्वमेध के द्वारा यशस्वी होकर परम पुण्य के भागी बने हैं।"

भरतजी ने कहा—"हॉ महाराज! अश्वमेध करे। राजाओं के लिये यह तो गौरव की बात है। इस यज्ञ मे यथेष्ट दान धर्म कीजिये ब्राह्मणों तथा अतिथि अभ्यागतों का सत्कार कीजिये सब को सुख दीजिये।"

यह सुनकर भगवान् ने अश्वमेध यज्ञ करने की आज्ञा दी। स्थान-स्थान से वेदज्ञ ब्राह्मण बुलाये गये। सरयू के तट पर एक विस्तृत मैदान मे यज्ञशाला का निर्माण होने लगा। अश्वशाला मे से एक उत्तम लक्षणों वाला अश्व चुना गया। उसकी विधिवत् पूजा करके श्रीरामचन्द्रजी ने उसे छोडा। उसकी रक्षा के लिये शत्रुघ्नजी को नियुक्त किया तथा भरतजी के पुत्र पुष्पकल, हनुमान जी तथा सुग्रीवजी को भी उनके साथ किया। चतुरंगिणी सेना को साथ लिए हुए शत्रुघ्नजी घोडे के पीछे-पीछे चले। घोडा स्वच्छन्द गति से जिधर जाता, उधर ही शत्रुघ्नजी सेना सहित उसका अनुगमन करते। वह घोडा अङ्ग, वङ्ग कलिङ्ग, सौराष्ट्र, मगध, पौंड, उत्कल गुर्जर, पान्ध्य, द्रविड, महाराष्ट्र, मत्स्य, सूरसेन, कुरु, जागल आदि अनेका देशो मे भ्रमण करता ब्रह्मावर्त प्रदेश मे आया। स्वेच्छा से विचरण करता हुआ अश्व जब गङ्गातट पर भगवान् वाल्मीकि मुनिके आश्रम के समीप पहुँचा तो उसे कुश के छोटे भाई लव ने देखा। लव बहुत से ऋषिकुमारों के साथ वन में अग्निहोत्र के लिये समिधा लेने को आये हुए थे। उन्होंने जब सुंदर घोडे को स्वच्छन्द घूमने देखा तो वे ऋषिकुमारों से बोले— "भाइयों! देखो, यह कैसा सुंदर घोडा है। इसके माथे पर यह

कैसा सुन्दर सुवर्ण पत्र टँगा है। चलो, इस घोड़े को पकड़ कर पढ़ें। इस पत्र मे क्या लिखा है। तुम लोग डरना मत।"

यह कह कर ऋषिकुमारो को वहीं छोड़कर लव धनुष बाण धारण किये हुए निर्भय होकर उस घोड़े के समीप गये। उन्होंने बकरी के बच्चे के समान घोड़े का कान पकड कर उसका सिर झुकाया और सुवर्णपत्र पर स्पष्ट अक्षरो मे लिखे हुए वाक्यों को पढ़ा। पत्र मे लिखा था—यह अयोध्याधिप श्रीरामचन्द्रजी के अश्वमेध का अश्व है। जो सच्चे क्षत्रिय हो वे इस घोड़े को पकड़ें, अन्यथा मेरे सम्मुख मस्तक झुकावें इस बात को पढ़ कर लव की भ्रुकुटियाँ चढ़ गईं। वे क्रोध से दाँतो को काटते हुए अपने आप ही कहने लगे—"यह ऐसा घमंडी कौन राजा है जो संसार में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय समझता है। क्या हम क्षत्रिय नहीं हैं। क्या हमने अपने गुरुदेव भगवान् वाल्मीकि से दिव्य अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त नहीं की है। यह राजा तो वस्तु ही क्या है यदि स्वर्गाधिप इन्द्र भी आजाय, तो रण मे वह भी हमसे नहीं जीत सकता। मैं इस घोड़े को पकडता हूँ। इसके रक्षक शत्रुघ्न देगें मेरा क्या करते हैं। अयोध्याधिप श्रीरामचन्द्र को भी विदित हो जाय कि संसार मे और भी कोई क्षत्रिय है।" यह कहकर लव ने उस घोडे को पकड लिया और एक वृक्ष से कस कर बाँध दिया।"

घोड़े को अपहरण करते देख कर मुनि बालक लव से कहने लगे—"अरे, कुमार! तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो। तुम्हें पता नहीं यह अयोध्याधिप श्रीराम के अश्वमेध का घोड़ा है। वे बड़े बलवान् हैं। इन्द्र भी उनके घोड़े को पकड़ने का साहस नहीं कर सकता। तुम बालसुलभ चञ्चलता छोड़ो। अभी घोड़े को

छोडकर इसके पीछे-पीछे आने वाले रक्षकों से क्षमा माँग लो नहीं तो बडा अनर्थ हो जायेगा।"

लवने ऋषिकुमारो को घुडकते हुए कहा—"चलो हटो, तुम लोग डर पोक हो। यह तो भइया, क्षत्रियों ही का काम है। तुम ठहरे ब्राह्मण, ब्राह्मण को तो लड्डू पूड़ी हलुआ चाहिये। सो तुम जाओ आश्रम में जाकर माल उडाओ। मैं तो इस घोडे को पकड़ूँगा, अवश्य पकड़ूँगा। जो मुझसे लडने आवेगा उसे मैं अपने दिव्य अस्त्रों से परास्त करूँगा। मुझे भी तो भगवान् वाल्मीकि ने धनुर्वेद की शिक्षा दी है। मैं युद्ध के अवसर को कैसे जाने दूँ।" लवकी बात सुनकर ऋषिकुमार चुप हो गये। इतने मे ही अश्व के रक्षक सैनिक आ गये। ऋषियों के बालक चुप चाप एक ओर खड़े हो गये। उनके मन मे कुतूहल हो रहा था, कि देखें अब क्या होता है।

उसी समय सैनिकों ने गरज कर कहा—"किसके सिर पर मौत नाच रही है, कौन बिना मृत्यु के मरना चाहता है, श्रीरामचन्द्रजी के यज्ञीय अश्व को किसने बाँध रखा है ?"

यह सुनकर लव ने क्रोध करके कहा—"हमने घोड़े को पकडा है। राम हो या शत्रुघ्न हम किसी को तृण के समान भी नहीं समझते क्या ससार में एक रामचन्द्रजी ही क्षत्रिय हैं, क्या शत्रुघ्न ही लडना जानते हैं। यदि उनमे शक्ति हो, तो हमसे लड़कर अश्व को छुडा ले जायँ।"

छोटे से बच्चे के मुख से ऐसी वीरता पूर्ण बाते सुनकर सभी सैनिक हँसने लगे। वे आपस मे कहने लगे—देखो, इसे ही "छोटे मुँह बड़ी बात कहते हैं" यह बालक है-तो ऋषि आश्रम में किन्तु कोई क्षत्रिय जान पडता है। एक वृद्ध सा सैनिक बोला—"बालक क्या है साक्षात् वीर रस प्रतीत होता है। इसकी आकृति

प्रकृति सब श्रीरामचन्द्रजी की सी ही दिखाई देती है। ऐसे ही कमल दलों के समान लुभावने लोचन हैं। वैसा ही वृषभ के समान स्कन्ध हैं। वैसी विशाल छाती है, धनुष बाण लिये यह साक्षात् इन्द्र पुत्र जयन्त के समान प्रतीत होता है। बालक ही जो ठहरा, बालकों में स्वाभाविक ही चंचलता होती है। उसी बालसुलभ चांचल्य से इसने अश्व को पकड़ कर बाँध लिया है। इसकी बातों पर ध्यान मत दो। घोड़े को खोलकर चल दो बालकों के तो सभी अपराध क्षमा ही कर दिये जाते हैं।"

वृद्ध की बात सुनकर बहुत से वीर वृक्ष में बँधे उस वाजि को विमुक्त कराने का उद्योग करने लगे। लव ने जब देखा, ये सैनिक तो मेरा तिरस्कार करके घोड़े को ले जाना चाहते हैं, तब तो वे

लाल-लाल आँखें निकाल कर धनुष पर क्षुरप्रनामक बाण चढ़ा

कर, क्रोध मे भर कर बोले—"सेवको सावधान ! सैनिको साहस मत करो । जो मेरे अश्व को छूएगा उसके मैं हाथ काट दूँगा ।"

सैनिको ने लव की बात पर ध्यान ही नहीं दिया । हँसकर टाल दिया और वे घोडे को खोलने लगे । अब तो लव से नहीं रहा गया उन्होंने क्षुरप्रो वाणो द्वारा सब सैनिकों के बात की बात मे हाथ काट दिये । हाथों के कट जाने से वे सब योद्धा रोते चिल्लात शत्रुघ्नजी के समीप गये और बोले, "प्रभो ! एक छोटे से बालक ने घोडे को पकड लिया है, जब हम घोड़े को खोलने चले, तो उसने हमारी यह दशा कर दी । प्रभो ! या तो वह साक्षात् वीररस है, या यज्ञ में विघ्न करने इन्द्र ही बालक का वेष बनाकर आया हुआ है । सौन्दर्य मे वह श्रीराम के समान है । बल पराक्रम मे उसकी समानता किसी से की ही नहीं जा सकती । आप शीघ्र ही कोई प्रबन्ध करे अथवा स्वय ही लडने जायें । वह बालक उपेक्षणीय नहीं है ।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी चिन्ता में पड गये । एक बालक म इतना साहस कैसे हो सकता है । सम्भव है इन्द्र ही हो, किन्तु इन्द्र का भी श्रीराम के घोड़े को पकडने का साहस नहीं । जो भी कोई हो मैं अपने विश्वविजयी सेनापति वीरवर कालजित् को उस बालक को पकडने के लिये भेज रहा हूँ ।"

सेना सहित सेनापति कालजित् ने देखा बालक अविचल भाव से धनुष पर वाण चढ़ाये खडा है और सैनिकों के आगमन की बाट जोह रहा है । उसे युद्ध के लिये उद्यत देखकर सेनापति कालजित् ने कहा—"बच्चे ! तुम कौन हो ? देखने म तो तुम बडे वीर प्रतीत होते हो । तुम्हारी आकृति तो हमारे महाराज के समान है, किन्तु तुममे बुद्धि नहीं । कैसे भी वीरपुत्र क्यों न हो, वह बालकपने की चचलता कहाँ जाय । श्रीरामचन्द्रजी के अश्व

को पकडकर तुमने लड़कपन ही किया है। तिस पर भी दूसरा यह अपराध कि सेनिकों के हाथ काट लिये हैं। अस्तु कोई बात नहीं। बालक जानकर मैं तुम्हें क्षमा किये देता हूँ। तुम घोड़े को छोड दो और शीघ्र ही भाग जाओ। यदि हमारे स्वामी शत्रुघ्न आ गये तो तुम्हे पकडकर अयोध्यापुरी ले जायँगे। मैं उनका प्रधान सेनापति कालजित् हूँ।"

यह सुनकर सूखी हँसी हँसते हुए दृढता के स्वर में लव बोले—"सुनिये सेनापति महोदय मेरी बात, वीरों को अवस्था नहीं देखी जाती। उनमें तो वीरता की ही प्रधानता है। तुम्हारे स्वामी शत्रुघ्न को मैं तृण के समान भी नहीं समझता। तुम्हारा नाम काल जित् है, तो मेरा नाम लव है। तुम्हारा काल तो मैं सम्मुख खडा हूँ। मुझे यदि तुमने जीत लिया, तब तो तुम्हारा कालजित् नाम यथार्थ है। यदि मुझे न जीत पाये तो तुम्हारा नाम व्यर्थ ही है। मैं यदि लव मे तुम्हे न जीत लूँ तो लव नहीं। आजाओ हमारे तुमारे दो-दो हाथ हो जायँ।"

बच्चे की ऐसी साहस पूर्ण बातें सुनकर कालजित् सहम गया। बात टालते हुये उसने कहा—"तुम किस कुल के हो, क्या तुम्हारा गोत्र है? तुम्हारे पिता का नाम क्या है। तुम मरना क्यों चाहते हो? क्यों इतनी बडी सेना से समर करने का साहस कर रहे हो?"

लव ने कहा—"तुम्हें मेरे कुल गोत्र से क्या लेना। मुझे विवाह तो करना नहीं जो अपने कुल गोत्र का परिचय दूँ। मुझे तो युद्ध करना है। युद्ध मे वीरता ही वीर का प्रत्यक्ष परिचय करा देती है।"

कालजित् ने कहा—"भाई! हमारा तुम्हारा युद्ध उपयुक्त नहीं। तुम पैदल हो मैं रथ पर हूँ।"

उपेक्षा के स्वर मे लव ने कहा—"कोई बात नहीं क्षण भर में मैं तुम्हारे रथ को छिन्न-भिन्न किये देता हूँ। फिर हम तुम दोनों ही पैदल हो जायेंगे। मैं पृथ्वी पर खडा रहूँगा, तुम धराशायी हो जाओगे। अच्छी बात है सम्हलो। देखो यह बाण आया।" यह कहकर लव ने एक तीखा बाण कालजित् के ऊपर छोड ही तो दिया। बाण जाकर कालजित् की कनपुटी पर लगा। उसके लगते ही वह व्याकुल हो गया। उसे बडा क्रोध आया। क्रोध में भर कर वह भी लव को लक्ष्य करके लक्षों बाण छोडने लगा। लवका तूणीर तो अक्षय था। वह भगवान् वाल्मीकि का दिया हुआ था। उसके बाण कभी चुकते ही न थे। लव बाणों की वर्षा करके सैनिको को आहत करने लगे। उन्होंने क्षण भर मे काल-जित् के रथ को तोड दिया। अब तो कालजित् घबड़ाया उसने तुरन्त एक बड़ा मदमत्त हाथी मगाया। हाथी पर चढ़कर वह युद्ध करने लगा। लव ने देखा यह तो बहुत ऊँचा हो गया। इस-लिये दौड़कर उन्होंने अपनी तलवार से हाथी की सूँड काट दी, सूँड़ के कटने से हाथी चिङ्घाड़ मार कर भागने लगा। लव ने उसके बडे-बडे दाँतों को कसकर पकड़ लिया और अत्यन्त ही लाघव से बड़े कौशल के साथ दाँतों पर पैर रख कर वे हाथी के उपर चढ़ गये। वहाँ मूर्छित पड़े कालजित् के मुकुट को उन्होंने तोड़ दिया और धड़ाम से धरती पर फेंक दिया। पृथ्वी मे गिरते ही वह संज्ञा शून्य हो गया। सभी सैनिक भागने लगे। अब लव हाथी से नीचे उतर कर अन्य सैनिकों का संहार करने लगे। इतने में ही कालजित् पुनः खडा हो गया और वह युद्ध के लिये उद्यत हुआ, कालजित को युद्ध के लिये देखकर लव उसके समीप आये और दो बाण मार कर उसे प्राण शून्य बना दिया। सेनापति के मरते ही सम्पूर्ण सेना मे भगधड़ मच गई। वे सब दौड़कर शत्रुघ्नजी के समीप आये

कालजित् की मृत्यु का समाचार सुनाया।

कालजित् का मरण सुनकर शत्रुघ्न को परम विस्मय हुआ। वे निर्णय न कर सके कि यह बालक कौन है। अब के उन्होंने भरत पुत्र पुष्कल को हनुमानजी के सहित बालक से लड़ने भेजा। पुष्कलजी ने देखा, बालक मेरी ही अवस्था का है, बड़ा तेजस्वी और सुन्दर है। उनका स्वाभाविक ही बालक के प्रति आकर्षण हुआ। उनके मन में बार-बार यह बात आती, कि दौड़ कर इसके चरण चूम लूँ। किन्तु जो शत्रुरूप में युद्ध करने सम्मुख खड़ा है, उसके सम्मुख सिर झुकाना क्षत्रिय के लिये कायरता है। यही सोचकर वे बोले—"वीरवर! मेरा नाम पुष्पकल है मैं महाराजा श्रीरामचन्द्रजी के अनुज भरतजी का पुत्र हूँ। आपसे युद्ध करने आया हूँ, किन्तु आप भूमि पर खड़े हैं, मैं रथ में बैठा हूँ, इस प्रकार युद्ध शोभा नहीं देता। मैं आपको एक सुन्दर सुसज्जित रथ देता हूँ। उस पर बैठकर आप मुझसे युद्ध करें।"

यह सुनकर लव बोले—"पुष्पकल! देखो, हम क्षत्रिय हैं। हम दान किया करते हैं। लेते नहीं शत्रु के दिये रथ पर चढ़ कर युद्ध करना वीर को शोभा नहीं देता। तुम चिन्ता मत करो। क्षण भर में तुम्हें भी मैं रथ हीन किये देता हूँ। सम्हलो।" यह कह कर लव ने पुष्कल पर बाण छोड़े। पुष्कल बड़ी देर तक वीरता पूर्वक युद्ध करते रहे, किन्तु वे लव के प्रहारों को सहन न कर सके। कुछ ही काल में हृदय में बाण लगने से वे मूर्छित होकर भूमि में गिर पड़े। हनुमान्जी उन्हें तुरन्त उठा कर शत्रुघ्नजी के समीप ले गये।"

पुष्कल को भी मूर्छित देख कर शत्रुघ्नजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने सोचा—"बालक रूप में कहीं काल ही तो नहीं आ गया है। ये बली हनुमान तो काल को भी जीतने वाले हैं।

अतः वे पवन तनय से बोले—अजनीनन्दवर्द्धन हनुमानजी! आप उस बच्चे पर दया न करें। वह तो बड़ा भयानक प्रतीत होता है। आप उसे अपनी गदा से मार डालें।"

शत्रुघ्नजी की आज्ञा पाकर हनुमान्जी बडे वेग से उछलते कूदते किल-किल शब्द करते हुए लव के समीप गये। जाते ही उन्होंने पर्वत के शिखरों से बडे २ वृक्षों से लव पर प्रहार करना आरम्भ किया। वे ऊँचे-ऊँचे फल फूले वृक्षों को जड से उखाडते और लव के सिर मे दे मारते। लव भी उन्हें लव मात्र मे अपने दिव्य बाणों से काट कर गिरा देते। इस प्रकार बहुत देर तक भीषण युद्ध होता रहा। अन्त में हनुमान् जी भी उसके दुस्सह प्रहारों को न सह सकने के कारण मूर्छित होकर भूमि पर गिर गये।

शत्रुघ्नजी ने जब पवन तनय के मूर्छित होने का वृत्तान्त सुना, तो उनका धैर्य छूट गया। वे तुरन्त ही अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर समर भूमि मे आये। उन्होंने देखा सिंह सावक के समान सैनिक वेष मे वीरवर लव खडे है और सेना के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो शत्रुघ्नजी को परम विस्मय हुआ। बच्चे को देखकर वे समझ गये यह श्रीरामचन्द्रजी का ही पुत्र है। जिस समय में लवण को मारने जा रहा था, उस समय भगवती सीता ने दो पुत्रों को प्रसव किया था। अब तक उनको इतना बडा हो जाना चाहिए। इसकी आकृति, प्रकृति, चलन चितवन सब श्रीरामचन्द्रजी के ही समान हैं, किन्तु यह तो अकेला ही है। शत्रु बनकर समर मे सम्मुख खडा है। इस पर दया कैसे की जा सकती है। चाहे अपना पिता सगा पिता ही क्यो न हो क्षत्रिय युद्ध मे उसके सम्मुख भी सिर नहीं झुकाता। पिता पुत्र के साथ, भाई भाई के साथ युद्ध करता है। यही सब सोचकर वे बडे स्नेह से बोले—वीरवर! तुम कौन हो? किस वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है।

तुम्हारे माता-पिता को धन्य है जिन्हें तुम्हारे जैसा पुत्र प्राप्त हुआ। तुम सचमुच में सौभाग्यशाली हो जो समर में विजय श्रीने तुम्हारा वरण किया। किन्तु मेरा नाम शत्रुघ्न है, मेरे सम्मुख तुम विजयी नहीं हो सकते।"

लव ने गभीरता से कहा—"राजन्! व्यर्थ बकवाद करने से कोई लाभ नहीं। शूरवीर कहा नहीं करते, वे करके दिखाते हैं मेरे समर से ही आप मेरा सम्पूर्ण परिचय पाजायँगे। अच्छी बात है सम्हल जाइये।"

इतना कहकर लव ने शत्रुघ्नजी पर प्रहार किया। शत्रुघ्नजी इसके लिये तैयार ही थे। उन्होंने भी लव पर बाण छोड़े। वे लव की युद्ध चातुरी को देखकर परम विस्मित हो रहे थे। लव निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहे थे। वे कब तूणीर से बाण निकालते, कब धनुष पर चढाते और कब उसे छोड़ते इसे कोई जान ही नहीं सकता था। इतना ही सब देखते थे कि लव के धनुष से निरन्तर बाण निकल रहे हैं। उन्होंने अपने बाणों से समस्त सेना को ढक लिया। शत्रुघ्नजी का रथ तोड दिया, धनुष की डोरी काट दी उन्होंने जो-जो नया रथ लिया, नया धनुष धारण किया, सभी को लव मात्र में छिन्न-भिन्न करते गये। अन्त में एक चोखा बाण शत्रुघ्नजी की छाती मे मार कर उन्हे मूर्छित कर दिया।

शत्रुघ्नजी के मूर्छित होते ही, उनके समस्त साथी राजा धर्मा-धर्म का कुछ भी विचार न करके सब एक साथ लव पर टूट पडे। इससे लव तनिक भी विचलित न हुए। उन्होने दश-दश बाण मारकर सभी को रण मे भगा दिया, मूर्छित बना दिया। सब पर विजय प्राप्त करके लव ने समर भयङ्कर गर्जना की। उसी समय शत्रुघ्नजी की मूर्छा जाती रही। वे सावधान होकर युद्ध के लिये पुनः लव के सम्मुख आये। इस समय उन्हें बडा क्रोध आ रहा

था, एक बालक से परास्त होने के कारण उन्हे महान् आत्म-ग्लानि हो रही थी। अतः उन्होंने वही वैष्णव शर–जिसके द्वारा लवण का वध किया था—धनुप पर चढ़ाया। उसके चढते ही तीनो लोको में हा-हा कार मच गया। वह आकर लव की छाती मे घुस गया। महामुनि वाल्मीकि की विद्या और आशीर्वाद के प्रभाव से वह लव के प्राणो को तो न ले सका किन्तु उससे वे मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर गये। शत्रु को मूर्छित देख कर शत्रुघ्नजी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शीघ्रता पूर्वक रथ से उतर कर लव को उठा लिया और रथ मे बाँध दिया।"

मुनि बालक जो समीप मे खडे-खड़े युद्ध देख रहे थे। लव को बँधा देखकर वे दौडते हुए आश्रम में गये। भगवान् वाल्मीकि उस समय आश्रम मे थे नहीं। वे गङ्गाजी की किसी निभृत निकुंज मे ध्यान मग्न थे। बालकों ने शीघ्रता पूर्वक जानकीजी के समीप जाकर हाँपते हुए कहना आरम्भ किया—"माँ! माँ! देखो, तुम्हारे पुत्र लव को एक राजा ने बाँध लिया।"

चकित-चकित दृष्टि से जानकी ऋपि कुमारो की ओर देखती हुई बोली—"भैया! लव ने उस राजा का क्या बिगडा था।

बच्चो ने अपनी जानकारी दिखाते हुए कहा—"सीता माता! यह कोई बहुत बडा राजा हे। उसके सग बहुत बडी सेना है। बहुत से घोड़े हैं, बडे-बड़े पहाड़ से हाथी हैं। रथों की तो लगार बँधी हुई हे। उसका मान सम्मान भी बहुत है उसी के घोडे को तुम्हारे पुत्र लव ने पकड़ लिया। फिर बहुत से लोग उससे लडने आये। लव ने वीरता पूर्वक उन सब का सामना किया बहुतों को मार गिराया। फिर वह राजा आया। राजा को भी घायल कर दिया। फिर उसने उठकर एक बाण मार कर लव

को मूर्छित करके अपने रथ में बाँध लिया। भगवान् वाल्मीकि भी आश्रम में नहीं हैं।"

सुनकर सती सीता परम दुखित हुई। वे रोती हुई कहने लगी—"हाय! यह कैसा निर्दयी राजा है जिसने मेरे फूल जैसे बच्चे को बाँध लिया। बच्चों पर इतना क्रोध करना चाहिये? मेरा पुत्र कुश भी यहाँ नहीं है। नहीं तो वही अपने छोटे भाई लव को छुड़ा लाता।"

माता इस प्रकार रुदन कर रही थी कि उसी समय कुश भी कहीं से आ गये अपनी जननी को रोते देख कर कुश को अत्यन्त ही दुःख हुआ। उन्होंने माता को प्रणाम करके पूछा—"माँ तुम इतनी अधीर क्यों हो तुम अपने दुखः का कारण मुझे बताओ। जननी! मैं सब कुछ देख सकता हूँ किन्तु तुम्हे दुखी नहीं देख सकता। अम्मा! किसने तुम्हारे हृदय को पीड़ा पहुँचाई है!

कुश की बात सुनकर सीता माता ने कहा—"बेटा तुम्हारे छोटे भाई लव को किसी राजा ने बाँध रखा है। तुम शीघ्र ही जाकर उस राजा से अपने भाई की रक्षा करो।"

इतना सुनते ही कुश का क्रोध सीमा को पार कर गया। वे अपनी माता को धैर्य बँधाते हुए बोले—"जननी! तुम चिंता मत करो। मैं अभी जाता हूँ। उस राजा को उसके किये का फल चखाता हूँ अपने भाई लव को उसके बन्धन से छुड़ाता हूँ और भाई के सहित शीघ्र ही तुम्हारी सेवा में लौट कर आता हूँ।"

इतना कहकर कुश अपना धनुष बाण तथा अक्षयतूणीर लेकर क्रुद्ध सिंह की भाँति कुपित हुए ऋषि पुत्रों के बताये मार्ग से समर भूमि में गये। वहाँ उन्होंने सहस्रों सैनिकों को धराशायी देखा। किसी के हाथ कट गये थे, किसी के सिर फट गये थे। किसी के सिर धड़ से पृथक् हो गये थे. कोई मर गये थे। कोई

अधमरे पृथ्वी पर पड़े-पडे बिल-बिला रहे थे। कुमार लव शत्रुघ्न जी के रथ मे बँधे हुए थे। जिस समय कुश समरभूमि मे पहुँचे उसी समय लव की मूर्छा दूर हुई। अपने को शत्रुघ्न के रथ पर बँधा देखकर तथा युद्ध भूमि मे अपने बडे भाई कुश को देख कर लव के क्रोध और उत्साह का ठिकाना नहीं रहा। वे बन्धनो को बल पूर्वक काट कर तुरन्त रथ से नीचे कूद पडे और अपने बडे भाई के चरणो मे आकर पड गये। कुश ने अपने छोटे भाई लव को उठा कर छाती से लगाया। वे दोनो एक से ही प्रतीत होते थे। शत्रुघ्नजी दोनों को देख कर समझ गये, अवश्य ही ये श्री रामचन्द्रजी के पुत्र हैं। बिना भगवान् के वीर्य के ऐसा दुर्धर्ष युद्ध और कौन कर सकता है। इन्हें युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता, ये बड़े ही बुद्धिमान्, वीर और उत्साही हैं। ये अपने अमोघ बाणो से किसी भी मुख्य वीर को मारते नहीं। मूर्छित करके छोड़ देते हैं। इनके साथ युद्ध करने मे मुझे बडा सुख मिलता है। इनकी रणचातुरी को देख कर मेरे रोम रोम खिल जाते हैं। मैं इन दोनों से युद्ध अवश्य करूँगा।

"क्षत्रिय युद्ध से किसी भी दशा मे पराङमुख नहीं होता।" यह सोच कर शत्रुघ्न जी उन दोनो भाइयो से समर करने लगे। इन दोनो वीरों ने शत्रुघ्न की सम्पूर्ण सेना के छक्के छुडा दिये जितने मुख्य मुख्य वीर थे, सभी को बाण मार कर मूर्छित कर दिया। शत्रुघ्न पुष्कल, सुग्रीव, हनुमान, सुदेव तथा अन्यान्य वीराग्र गणियों को अचेतन बनाकर पृथ्वी पर सुला दिया। मोहनास्त्र छोड़कर सभी को मोहित कर दिया।

जब सभी मूर्छित हो गये तो लव ने बड़ी उत्सुकता से कहा भेया देखो! माता जी को दिखाने के लिये कुछ चिन्ह तो लेते चलें कुश ने लव की बात का अनुमोदन किया। बाल सिंहों की भाँति

यह सुनकर जानकी जी की आँखों में आँसू आ गये और पुत्रों को डाँटती हुई बोलीं—"हाय ! तुम लोगों ने यह क्या अनर्थ कर डाला। जिनका तुम नाम ले रहे हो, वे ही तो तुम्हारे पिता हैं

शत्रुघ्न तुम्हारे सबसे छोटे चाचा हैं। यह सुनकर [illegible]
दिया। [illegible] हूँ मुझे शीघ्र ही उन्हें दिखाओ।"

यह सुनकर दोनों भाग गये और अपनी माता को [illegible] बाहर आये। सुग्रीव और हनुमान जी घोड़े की पूँछ से बँधे हुए थे।

भूमि मे किड़रने के कारण उनका शरीर छिल गया था। यह देखकर माता शीघ्रता से बोलीं—"तुम दोनों बड़े चचल हो। अरे, पागलों! तुम इन दोनों को जानते नहीं। ये दोनों विश्वविजयी वीर हैं। ये बड़े वानरराज सुग्रीव हैं। दूसरे पवनतनय हनुमान् हैं जिनका यश तुम नित्य ही रामायण मे गाया करते हो। इनके मेरे ऊपर बड़े-बड़े उपकार हैं। इनके सम्मुख तो मैं सिर भी ऊँचा नहीं कर सकती। तुम इन्हें साधारण वानरों की भाँति बाँध लाये हो। छिः छिः तुमने यह बड़ा बुरा काम किया। छोड़ो-छोड़ो इन्हे तुरन्त खोलदो।"

यह कहकर जगदम्बा जानकी सूर्य नारायण की ओर देखकर बोलीं—हे चराचर जगत् के साक्षी! सूर्य देव! यदि मैं मनसा, वाचा, कर्मणा से श्री रामचन्द्र जी की ही अनुगामिनी होऊँ मैंने मन से भी कभी परपुरुष का चिंतन न किया हो, तो शत्रुघ्न की समस्त सेना मूर्छित और मृतक व्यक्ति जीवित हो जायँ।"

सीताजी का इतना सोचना था, कि सब के सब सैनिक निद्रित पुरुषों की भाँति सोते से उठ खड़े हो गये। जिनके जो अग कट गये थे, वे पुनः उनमे जुड़ गये। हनुमान जी तथा सुग्रीव जी भी मूर्छा भग होने से उठकर खड़े हो गये। हाथ जोड़कर उन्होंने सम्मुख खडी सीता माता को प्रणाम किया।

सीताजी ने कहा—देखो भैया! इन बालकों की चचलता पर मे तुम लोग ध्यान न देना। बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि यहाँ वन में भी मैं तुम दोनों को कुशलपूर्वक देख रही हूँ आज कल भैया, मैं तो परित्यक्ता हूँ। मेरे स्वामी ने ही मुझे छोड रखा है। जिसमे उन्हें प्रसन्नता हो उसी में मुझे प्रसन्नता है। हनुमान तुम मुझे लंका से छुडाकर क्यों लाये वहीं मर जाने देते। फिर ये दुख तो न देखने पडते। अब भैया! मैं मर भी नहीं सकती। इस वन मे भगवान वाल्मीकि की कृपा के सहारे ही मैं

अपने दिन काट रही हूँ। इन नन्हे-नन्हे बच्चों का मुख देखकर ही जी रही हूँ। यही सोचती हूँ मेरे बिना ये तड़पेंगे। नहीं तो अब तक मैं कब की मर गई होती।"

सीताजी को इस प्रकार दुखित देखकर सुग्रीव और हनुमान् रोने लगे। हनुमान् बोले—"माताजी! यह सब भाग्य की विडम्बना है। आप के हृदय में श्रीरामचन्द्रजी सदा निवास करते हैं और रामचन्द्रजी के चित्र में आप सदा चढ़ी रहती हैं। आप दोनों में पल भर का भी वियोग नहीं। यह आप लोक को दिखाने के लिये, ससार मे करुणा की सरिता बहाने के लिये ऐसी लीलायें कर रही हैं। सौभाग्य की बात है कि आज हम आपको पुत्रवती देख रहे हैं। लव और कुश से पराजित होने पर हमे प्रसन्नता ही है। स्वामी से तो सेवक सदा पराजित ही रहता है। ये हमारे स्वामी के स्वरूप हैं, उनकी प्रतिकृति हैं, राम की प्रत्यक्ष आत्मा हैं। ऐसे वीर पुत्रों को प्रसव करके आप यथार्थ मे वीर प्रसविनी माता हुई। शीघ्र ही ये हमारे स्वामी होंगे। अब हमें आप आज्ञा दें। शत्रुघ्नजी हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे दिन दूर नहीं जब हम आपको पुनः श्री रामचन्द्रजी के साथ देखेंगे।" यह कहकर दोनों ने माता जानकी की प्रदक्षिणा की और लवकुश के दिये हुए यज्ञीय अश्व को लेकर वे सेना में आ ये।

तब तक शत्रुघ्न जी तथा समस्त सैनिकों की मूर्छा दूर हो चुकी थी। अश्वसहित सुग्रीव और हनुमान् को देखकर शत्रुघ्न लज्जित हुए और सकुचाते हुए बोले—"ये दोनों बालक बड़े शूर धीर हैं। इन्होंने तो हम सब को परास्त कर दिया। तुमको यह अश्व कैसे मिला?"

इस पर सब वृत्तान्त सुनाते हुए सुग्रीव बोले—"राजन्! इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। इन बालकों में ऐसा बल होना ही

चाहिये। क्योंकि ये भगवान् श्रीरामचन्द्र के वीर्य से सीता माता के उदर से उत्पन्न हुए हैं ये हमारे स्वामी हैं। स्वामी से तो सेवक सदा हारा ही हुआ होता है।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। वे फिर आश्रम में नहीं गये। वहाँ से यज्ञ के घोड़े को लेकर अयोध्यापुरी को लौट आये। घोड़े को सकुशल लौटा देखकर श्रीरामचन्द्रजी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत्त यज्ञ को पूर्ण किया। ब्राह्मणों और याचकों को मन माने दान दिये। विशाल यज्ञ अत्यंत ही धूमधाम के साथ समाप्त हुआ। यज्ञ की समाप्ति पर सबने अवभृथस्नान किया और सब अपने-अपने घर लौट गये।

भगवान् का कोई शत्रु राजा तो रह ही नहीं गया था। सभी उनके अधीन थे। युद्ध का अवसर ही नहीं आता था। सीताजी के वियोग के कारण श्रीरामचन्द्रजी के दिन कटते ही नहीं थे। उन्हे पल-पल काटना भारी हो जाता। सीता जी के प्रेम को वे प्रयत्न करने पर भी न भुला सके जितना ही वे भुलाने का प्रयत्न करते उतना हो उनका अधिक स्मरण होता। अयोध्या के वे समस्त समल सीता जी की स्मृति दिलाते। इस भावना मे पहिले ही पहिले विवाह के उपरान्त विदेह कुमारी मिली थीं। यहाँ उसके साथ ऐसी-ऐसी बातें हुई थीं। इन सब प्रसंगो को याद करके श्री रामचन्द्रजी अत्यंत ही दुखित होते। उन्होंने सोचा कुछ दिन अयोध्या छोड़कर अन्यत्र रहें।" नैमिपारण्य पुण्य भूमि है, वहाँ ८८ हजार मुनि निरन्तर तपस्या करते रहते हैं और सहस्रो मुनि सदा आते जाते रहते हैं। वह "यज्ञ का प्रधान स्थल है। वहाँ चलकर अश्वमेध यज्ञ करें। इससे मन भी बहलता रहेगा। समय भी कट जायगा।" यह सोचकर भगवान् ने नैमिपारण्य में अश्वमेध यज्ञ करने की आज्ञा देदी। अब क्या था वहाँ गोमती नदी

के तट पर यज्ञ की धूमधाम के साथ तैयारियाँ होने लगीं। सेवकों ने पहिले जाकर १० योजन लम्बी भूमी यज्ञ के लिये एक सी की। गड्ढो को भरा, ऊँची भूमि को काटकर समतल किया। जब भूमि एक सीही गई तो वहाँ हजारों लाखों फूँस की कुटियाँ बनाई गईं। बहुत सुन्दर-सुन्दर डेरे तम्बू लगाये गये उनके चारों ओर कनात लगाकर उनकी परिधि बनाई गई। देश-देश के राजा महाराजाओं को निमन्त्रण भेजे गये। अयोध्याजी से अन्नादि सब सामग्री गाड़ी घोड़ा, ऊँट तथा बैलों मे लदा कर भेजी जाने लगी लाख बोरों मे सुंदर बासमती चावल, भरकर चले लाख बोरे गेहूँ, दस हजार बोरे जो, चावल तिल लेकर घोड़े खच्चर बैल चले। बड़े-बड़े कुप्पों मे धन भर कर लाख ऊँटों पर लद कर चले। इसी प्रकार मूँग उड़द, अरहर, नमक, मिर्च, धनिया, जीरा, राई, हलदी, खटाई, मेथी, हींग, काली मिरच, सौंठ, अजमोद, तेजपात, जावित्री, छोटी बड़ी इलायची, पीपल, सौंफ, आदि मसाले बोरों मे भरकर चले। गुड़, शक्कर, चीनी, बूरा, खांड़ मिश्री आदि गुड के बने पदार्थ लाखों बोरो मे भरकर गाड़ियो मे लदकर चले। सुवर्ण की लाखों मुहर, सोना, चाँदी, मोती मूँगा, माणिक आदि सुंदर रेशमी थैलियों मे भरकर लोहे की गाड़ियो में लद कर सैनिकों की रेख देख मे चले। यज्ञ के उपयोगी सभी सामग्री विपुल मात्रा में भेजी जाने लगी। पक्के कुए बनाकर उनमे घृत भरा जाने लगा। उन पर लोहे के ढकन लगे थे। बड़े-बड़े काठ के कोठे पर लाकर उनमें दही दूध भरा गया। उनमे काठ के पनाले लगे हुए थे। उनके नीचे पात्र रख दो स्वतः ही भर जायँ, चावल डाल दो स्वयं खीर तैयार हो जाय। सहस्र भोजनालय बनाये गये। सभी लोगों को यज्ञ के लिये निमत्रित किया गया। यज्ञ कराने वाले ऋषि मुनियो को निमंत्रण भेजा गया। जो जीविकार्थ पर देश चले गये

थे, ऐसे लोगों को भी समाचार भेज कर बुलाया गया। सपत्नीक ब्राह्मणों को आह्वान किया। बाजा बजाकर जीविका चलाने वालों को खेल दिखाने वाले नटनर्तकों को स्तुति करने वाले सूत, मागध वन्दियों को, नाटक करने वालो मण्डलियों को गीत गाने वाले गायकों को, मल्लों और योद्धाओं को, कथावाचक और उपदेशकों को नामकीर्तन और भजन कीर्तन करने वाले कीर्तनकारों को तथा अन्यान्य मनोरंजन करने वाले भाँड तथा बहुरूपियों को बुलाया गया। यज्ञ का समाचार सुनकर दूर-दूर से ऋषि मुनि, ब्राह्मण, अभ्यागत, याचक तथा सभी वर्णों के लोग नैमिषारण्य की ओर जाने लगे।

भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नजी की स्त्रियाँ भी पालकियों में बैठकर चलीं सुवर्णमयी सीता भी सजाकर सत्कार पूर्वक ले जाई गई। ब्राह्मण गण यज्ञ की सामग्री तथा पूजन की सामग्री सम्हलवा कर ले जाने लगे। धूप, कपूर, चंदन, गुग्गुल, खस, नागरमोथा, छार, छबीला केशर कस्तूरी आदि बोरे के बोरे ब्राह्मणों के साथ गाड़ियों पर भेजे गये। सुवर्ण चाँदी, ताँवा, काँसा, लोहा, लकड़ी तथा मिट्टी के छोटे बड़े सहस्रों वर्तन ऊँटों और खच्चरों पर लद कर चले। रेशमी, सूती उनी सहस्रों थान के थान कपड़े यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के लिये भेजे गये। सारांश यह है कि जीवनोपयोगी सभी सामग्रियाँ जो यहाँ से जा सकती थीं, वह वाहनों पर भेजी गई। जो नित्य मँगाने की वस्तु थी जैसे दूध, दही, फल, फूल माला साक भाजी कुशा समिधा तुलसी बिल्वपत्र।

पञ्चगव्य आदि का प्रबन्ध नहीं किया गया। पंक्ति बद्ध शिविर बनाये गये। व्यापारियों की दुकाने अलग बसाई गई। आगत राजाओं के आवास स्थान अलग बनाये गये इन सब में भोजन की सामग्री जल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का पृथक्-

पृथक् प्रबन्ध था। प्रकाश का प्रबन्ध अति उत्तम था। रात्रि मे दिन सा प्रतीत होता था। सफाई और स्वच्छता का वहाँ अत्यधिक ध्यान रखा जाता था। अयोध्या जी से बहुत से झाड़ू लगाने वाले सफाई करने वाले वहाँ आये थे। थोड़े ही दिनों में नैमिषारण्य मे अयोध्या के ही समान पुरी बस गयी। चाहे जो आवश्यक वस्तु ले लो जीवनोपयोगी किसी वस्तु का वहाँ अभाव नहीं था वसिष्ठ वामदेव जाबालि तथा कश्यप आदि बड़े-बड़े ऋषि महर्षि जो अश्वमेधादि यज्ञों के विशेषज्ञ माने जाते थे जिन्होंने बड़े-बड़े राजाओं के अनेकों अश्वमेधादि यज्ञ कराये हैं, उन्होंने विधिवत् यज्ञ मंडप आदि की रचना की। शुभ लक्षणों वाला परम सुन्दर अश्व छोड़ा गया। अबके लक्ष्मण जी उसके रक्षक बन कर गये। घोड़ा छोड़कर श्रीराम जी नैमिषारण्य मे आकर निवास करने लगे। यज्ञ सम्बन्धी और कार्य होते रहे। श्रीराम चन्द्र जी बड़े-बड़े गायकों के सभा मे बैठकर गान सुनते, शास्त्र चर्चा होती, कथावाचक आ आकर पुरानी कथायें कहते। इस प्रकार यज्ञ का कार्य बड़ी धूम धाम से होने लगा। उस यज्ञ में कोई ऐसा नहीं था, जिसका श्री रामचन्द्र जी के सेवकों ने सत्कार न किया हो।

सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण, भरत, शत्रुघ्न तथा अन्यान्य राजे महाराजे स्वयं अपने हाथो से सभी की सेवा करते थे। श्री रामचन्द्र जी की आज्ञा थी, जो भी आकर जिस वस्तु की याचना करे, उसे उस वस्तु को तत्काल दो। यथेष्ट परिमाण में दो जब तक वह नहीं न करे, तब तक देते ही रहो। कोई हमारे यहाँ विमुख होकर न जायँ।"

भगवान् के सेवक ऐसा ही करते थे। वे निरन्तर कहते रहते थे—"जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो कह दो! जिसे जो

लेना हो ले जाओ जिसे जो खाना हो यहीं खाओ कची, पक्की, फलाहारी जैसी रसोई रुचिकर हो वैसी पाओ। जिसे सूखी सीधा सामग्री चाहिये वह सेवकों से जितना चाहो उठवा ले जाओ। सारांश यह कि वहाँ कोई भी किसी वस्तु के अभाव का अनुभव नहीं करता था। कल्पवृक्ष के समान इच्छित पदार्थ श्रीराम के यज्ञ में सब को मिल रहे थे। लाखों वर्षों की आयु वाले ऋषि महर्षि कहते थे, हमने बहुत से यज्ञ देखे हैं, किन्तु अतिथियों का इतना आगत स्वागत इतना सत्कार इतना अधिक दान हमने किसी भी यज्ञ में नहीं देखा सभी अपने को यहाँ दिव्य लोक में अवस्थित अनुभव करते थे।

ऋषि मुनि के लिये ऐसा प्रवन्ध था कि जो भी किसी नये आये हुए ऋषि मुनि को देखता! वही उनके सत्कार के लिये दौड़ पड़ता है। स्वागताध्यक्ष को पता भी न चलता तब तक उनके ठहरने, खाने पीने का सभी प्रवन्ध हो जाता मुनियों के रहने की कुटियाँ एकान्त में बनाई गई थीं। उनमें तपस्वियों के योग सभी सामग्रियाँ एकत्रित कर दी थी।

यज्ञ बड़ी धूम धाम से हो रहा था। उस यज्ञ की बड़ी भारी प्रशंसा सुनकर भगवान् वाल्मीकि जी अपने शिष्य प्रशिष्य तथा साथी साधुओं के सहित यज्ञ देखने के लिये पधारे। उनके साथ छकड़े थे, जिनमें अग्नि होत्र की अग्नियाँ तथा आवश्यक सामग्री थी। महामुनि वाल्मीकि के साथ उनके दोनों प्रिय शिष्य कुश और लव भी थे। उन दोनों को मुनि ने समस्त रामायण काव्य संगीत सहित याद करा दिया था। वे ताल, मूर्छना, लय तथा स्वर के साथ रामायण का गान करने में परम निपुण थे। यह पूरा महाकाव्य उन्हें कंठस्थ था। मुनि एक एकान्त कुटी में आकर चुप चाप उतर गये। सेवकों ने तुरंत उनके रहने का

सब प्रबन्ध कर दिया भोजन की समस्त सामग्रियाँ उनके समीप पहुँचा दीं। मुनि ने अग्निहोत्रादि नित्य कर्म किया और रात्रि मे यज्ञ की बातें सुनते हुए सुख पूर्वक विश्राम किया!

प्रातः काल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर महामुनि वाल्मीकि जी ने अपने दोनों प्रिय शिष्य कुश और लव को बुलाया वे विनयी बालक हाथ जोड़े हुए गुरु के सम्मुख उपस्थित हुए। मुनि ने अत्यंत ही प्यार से कहा—पुत्रो। तुम इस महायज्ञ मे अपना सुंदर काव्य सभी को सुनाओ। यहाँ बड़े-बड़े राजे तथा प्रतिष्ठित पुरुष आये हुए हैं। संसार के कोने-कोने से दशों दिशाओं से राजा महाराजा गुण ग्रहितव्या कलाकार यहाँ एकत्रित हुए हैं। तुम सुन्दर स्वर से ताल और लय के साथ इस महाकाव्य को सुनाओ। जहाँ ब्राह्मण ठहरे हैं, जहाँ बाजार लगा है, जहाँ पर कारीगर काम करते हैं, जहाँ राजा लोग ठहरे हुए हैं सब स्थानो में जा-जाकर मेरे रचे इस महाकाव्य को सुनाना सुनाने मे प्रमाद मत करना। सुनाते-सुनाते थक जाओ तो बैठकर तनिक विश्राम लेना रसीले फलो को खाकर अपने श्रम को मिटाना। भूख लगने पर ही फलो को खाना। खा-खा कर गान करना। सरस, सुगंधित फलों को खाने से तुम्हारे कंठ पुनः सुंदर हो जाया करेंगे। गाते समय संकोच मत करना ऋषियो के यहाँ अधिक देर तक ठहर कर गाना। श्री रामचन्द्रजी के निवास स्थान पर भी जाना। वहाँ अत्यंत मधुर कंठ से गान करना। राजा रामचन्द्र तुम्हे गाने को बुलावें तो शिष्टता के साथ उनके समीप जाना। वे तुम्हारे पिता हैं। इसलिये उनसे कोई अशिष्टता का व्यवहार मत करना। उन्हें यह भी मत बताना कि हम आपके पुत्र हैं वे तुम्हारा परिचय पूछें तो इतना ही कह देना हम वाल्मीकि जी के शिष्य हैं। श्रीराम तुम्हे कुछ धन दें तो कभी

मत लेना। नम्रता के साथ कह देना हम वन में रहने वाले मुनि हैं हमे धन से क्या प्रयोजन! नित्य २० सर्ग गाना। यह सुन्दर स्वर वाली दो वीणायें हैं इन्हें बजाकर स्वरों मे स्वर मिलाकर गाना। गाते समय भूल मत जाना।

इस प्रकार मुनि ने अपने प्यारे शिष्य कुश और और लव को भाँति-भाँति की शिक्षायें दी। गुरु की शिक्षाओं को शिरोधार्य करके वे बच्चे गाते हुए आगे बढे। उस समय उनकी शोभा बडी ही अपूर्व थी। दोनों का रूप रंग स्वभाव व्यवहार, शील संकोच एक समान था दोनो की सुन्दर छोटी-छोटी सुनहरी जटायें थीं। वे वायु में विखर कर उनके मुख मंडल पर हिलती हुई अत्यंत ही शोभा दे रहीं थीं। दोनो ही पीले-पीले वस्त्र पहिने थे। दोनों के ही हाथ मे वीणा थीं, दोनों के ही कठ सुरीले थे, दोनो ही एक स्वर मे मिलकर गा रहे थे, उनके स्वर इस प्रकार मिले हुए थे, दूर से सुन कर कोई यह नहीं कह सकता था कि दो कुमार गा रहे हैं। उनकी चाल ढाल बडी ही सुन्दर थी, उनकी वीणा मे, चितवन मे, गायन में, उठन बेठन मे आकर्षण था उन दोनो के पेर एक साथ ही उठते थे। वे कभी ताल स्वर से बाहर नहीं जाते थे। सहस्रों नर नारी बालक, युवा, वृद्ध उन्हे चारो ओर से घेर लेते। वे सब उनका गायन सुनकर धन्य धन्य कहते। वे एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाते। लोग वहीं उनके पीछे लगे चले जाते उनके गान की सर्वत्र धूम मच गई। गायक आश्चर्य चकित रह गए। ब्राह्मण विस्मित हुए, राजाओं की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा रामचन्द्र जी की वीती हुई घटना प्रत्यक्ष सी प्रतीत होने लगीं। दोनों कुमार गाते-गाते श्रीरामचन्द्र के द्वार पर पहुँचे।

श्री रामचन्द्र जी ने इन बालकों को देखा देखते ही उनका

हृदय भर आया इनका गायन सुनकर तो वे आत्म विस्मृत हो गये। इतनी छोटी अवस्था में सगीत के समस्त नियमों का सावधानी से पालन करते हुए तालस्वर के साथ ये बालक गानकर रहे हैं, यह देखकर श्रीरामचन्द्र जी परम प्रसन्न हुए। लक्ष्मणजी के द्वारा उन बालकों को बुलाकर भगवान् ने पूछा - "क्या तुम लोग हमे गाना सुनाओगे।"

कुश ने विनीत भाव से कहा—"क्यों नहीं, महाराज की आज्ञा होगी तो अवश्य सुनावेंगे।"

यह सुनकर भगवान् ने राजसभा में सभी को बुलवाया। पुराण जानने वाले पंडितों को व्याकरण के ज्ञाता बड़े-बड़े वैयाकरणों को, ज्योतिष विद्या के आचार्य ज्योतिषियों को, गणितज्ञो को वृद्ध ब्राह्मणों को, संगीत मर्मज्ञों को रसशास्त्र के ज्ञाता रसिकों को ललित कलाओं के कलाकारो को वाचकों को ऋषि मुनियो को चातुर्वर्ण के लोगों को यहाँ तक कि बालकों और स्त्रियों को भी उस काव्य श्रवणार्थ बुलाया गया। सभी को यथायोग्य बैठने के लिये आसन दिया गया। सब के बैठ जाने पर दोनों भाइयों ने निर्भय होकर अत्यत ही सुरीली वाणी से गायन आरंभ किया। गाते-गाते वे तन्मय हो गये। श्रोताओं के नेत्र झर-झर-झर रहे थे। ये आनन्द में विभोर हुए आत्म विस्मृत से बने जा रहे थे। गाते-गाते विरिर जाते आनन्द के उद्रेक में तैरने और उतरने से लगते। श्रोता चित्र लिखे के समान चुपचाप होकर सुन रहे थे।

उस समय सभा में ऐसी शान्ति थी, कि कोई वेग से साँस भी लेता तो वह सुनाई देती। सभी के चित्त को उन बालकों ने आकर्षित कर लिये। आदि से लेकर उन्होंने २० सर्ग गाये। गुरु की आज्ञा नित्य २० सर्ग ही गाने की थी, अतः २० सर्ग गाकर

वे चुप हो गये। उनके गायन से श्री रामचन्द्रजी अत्यंत प्रभावित हुए। नगर निवासी तथा दर्शक कहने लगे—"ये तो रामजी की प्रतिकृति ही हैं। यदि ये मुनियों के वस्त्र न पहिने होते तो इनमें और श्रीरामजी मे कोई अन्तर ही नहीं। श्रीरामजी का भी इनके प्रति कैसा सहज स्नेह है।

बालक जब रामायण गाकर चुप हो गये तब श्रीरामजी ने अपने छोटे भाई भरत से कहा—"भरत! इन परम गुणी ऋषि कुमारों को ६-९ सहस्र के सुवर्ण के सिक्के शीघ्र ही दे दो। इनके अतिरिक्त भी जो ये वस्तुएँ माँगें वे भी इन्हें दे दो।"

श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर भरत जी १८ हजार सुवर्ण मुद्रायें ले आये और इन बालकों को देने लगे। बालकों ने विनीत भाव से कहा—"राजन्! हम वनवासी मुनि हैं, इन सुवर्ण मुद्राओं को लेकर क्या करेंगे! हमें कुछ भी नहीं चाहिये।"

त्याग से पुरुष का आदर बढ़ता है। ग्रहण की अपेक्षा त्याग में अधिक आकर्षण है। इतने छोटे बच्चों की ऐसी निस्पृहता देखकर श्री रामचन्द्र जी को मन ही मन बड़ी शांति हुई। उन्होंने अत्यंत ही स्नेह से सम्पूर्ण ममता बटोर कर उन बालकों से कहा—"बच्चों! यह अत्यंत सुंदर काव्य तुमने किससे पढ़ा? किसने इसकी रचना की। तुम किनके शिष्य हो? यह काव्य कितना बड़ा है? जिनसे तुमने यह काव्य पढ़ा है वे मुनि कहाँ रहते हैं, इस समय कहाँ हैं?"

कुश ने कहा—"प्रभो! इस महाकाव्य की रचना भगवान् वाल्मीकि ने की है। यह सबसे पहिला लौकिक छन्दों में काव्य है, इसीलिये इसका नाम आदिकाव्य है। इसमें आपका चरित है इसीलिए इसका नाम रामायण है मुनि ने इसे ६ काण्डों में समाप्त किया है। सातवाँ उत्तर काण्ड पीछे बनना है। इसमें २४

हजार श्लोक हैं। इसके पढ़ने से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके रचयिता भगवान् वाल्मीकि आपके यज्ञ मे आये हुए हैं। वे ऋषियों की कुटियों के समीप एकान्त में ठहरे हुए हैं।"

लव-कुश की बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजी परम प्रसन्न हुए वे *महातेजस्वी तपोधन महात्मा वाल्मीकि मुनि* के समीप बच्चों के साथ गये। उनकी विधिवत् पूजा करके श्रीराम ने उनके तप की, शिष्यों की आश्रम के पशु पक्षी और वृक्षों की कुशल पूछी। मुनि ने भी महाराज रामचन्द्र के राज्य परिवार कोष सेना अमात्य तथा भाइयों की कुशल पूछी। तदनन्तर श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन्! आप पधारे यह मेरा अहो भाग्य। आपकी पद धूलि से यह पंडाल परम पावन बन गया। महात्मन्! आपने जो यह काव्य बनाया है यह बड़ा ही अलौकिक है। इसकी रचना अलौकिक ढंग से की है। यह तो समाधि भाषा में आपने सब घटनाओं को प्रत्यक्ष देखकर लिखा है। इन बच्चों का कंठ भी बड़ा मधुर है। मैं आपके साथ तथा समस्त ऋषि मुनियों के साथ इस सम्पूर्ण महाकाव्य को आपके इन सुयोग्य शिष्यों के मुख से सुनना चाहता हूँ। कल से आप भी सभा में कष्ट किया करें।"

यह सुनकर भगवान् वाल्मीकि प्रसन्न हुए और बोले—"रघुनन्दन! आज मेरा श्रम सफल हुआ। जो रचना राम को प्रिय है, वही तो वास्तव मे रचना है। जिस रचना मे राम का महत्व वर्णित है उसी रचना को रसग्राही रसिक महानुभाव प्रशंसा करते हैं। लेखक की अपने कृति का सर्वश्रेष्ठ पारिश्रमिक यही है कि उसकी कृति की विद्वान् लोग प्रशंसा करें। कलाकार की कला की कलामर्मज्ञ यदि बड़ाई करें तो उसका परिश्रम सफल जो जाता है। कल मैं आपकी सभा मे अवश्य आऊँगा। बच्चे सबके सम्मुख नित्य २० सर्गों का गायन करेंगे।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। वे मुनि को प्रणाम करके तथा सेवकों को सभी प्रकार की सेवा करने का आदेश देकर अपने निवास स्थान को चले गये।

दूसरे दिन फिर सभा लगी। कुश-लव के संगीत की सर्वत्र प्रशंसा फैल गई थी। अब यज्ञ में जितने खेल तमासे होते थे, सभी बंद हो गये। सभी सब कार्यों को छोड़कर कुश-लव का संगीत सुनने राजा राम की सभा में आने लगे। श्रीरामचन्द्र जी भी राज सिंहासन छोड़ कर मुनियों के बीच में साधारण पुरुषों की भाँति संगीत सुनते। लव और कुश छोटे होने के कारण ऊँचे मंच पर विठाये जाते जिससे सभी उन्हें देख सकें दूर-दूर तक बैठे लोग सुन सकें। इससे यह दिखाया, कि पुत्रों के योग्य होने पर बुद्धिमान् राजा स्वयं ही उनके लिये सिंहासन छोड़कर पृथक हो जाते हैं।

इस प्रकार नित्य ही रामायण का गान होता सभी श्रोता उस श्रुति मधुर, सुंदर काव्य को बड़ी उत्कंठा से श्रवण करते। उसमें नवों रसों का वर्णन था। उसके पद सुंदर थे, अर्थ गांभीर्य अलौकिक था। सुनते ही श्रोता समझ जाते थे। सम्पूर्ण रामायण को सुनकर श्री रामचन्द्रजी तथा समस्त श्रोता समझ गये, कि ये लव-कुश सीता के पुत्र हैं। रामायण में इन सबका भी वर्णन आया था। इस अश्वमेध तक का वृतान्त उसमें गाया गया था। आगे मुनि ने सुनाने को मना कर दिया।

अंतिम दिन भगवान् वाल्मीकि सभा में नहीं आये। तब भगवान् ने सब सभासदों के सम्मुख अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—"सौमित्रे! तुमने रामायण में सुना है, ये दोनों सुंदर कुमार बच्चे तो सीता के ही हैं। इस काव्य के श्रवण करने से तो प्रतीत होता है, सीता सर्वथा शुद्ध है।"

यह सुनकर सभी श्रोता एक स्वर मे बोल उठे—"ये दोनों हमारे स्वामी हैं। ये रघुवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले हैं। ये भगवती सीता के पुत्र हैं। सीता माता सर्वथा शुद्ध हैं। उनका निष्कासन घोर अन्याय है। हम इस यज्ञ मे जगज्जननी जानकी का दर्शन करना चाहते हैं।"

यह सुनकर शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हुए और बोले—"जब मैं मधुवन लवण को मारने जा रहा था, तब एक रात्रि के लिये मुनिवर भगवान् वाल्मीकि जी के आश्रम पर ठहरा था। उस दिन सीता माता ने मेरे रहते ही इन दोनो यमज पुत्रो को उत्पन्न किया था। ये सीताजी के ही पुत्र हैं। सभी देख रहे हैं।

श्री रामजी और इनके रूप में कोई अंतर नहीं। मुझे भगवान् वाल्मीकि ने मना कर दिया था कि तुम इस बात को किसी से कहना मत समय स्वयं ही इस बातो को प्रकट करा लेगा।"

इस पर रोते-रोते लक्ष्मण ने कहा—मैं आपकी आज्ञा से माता जी को छोडने जब गया था, तब उन्होंने रोते-रोते कहा था—"लक्ष्मण! तुम मेरा उदर देखते जाओ। मैं गर्भिणी हूँ पीछे मुझे लांछन न लगावे यह ससार बहुमुग्ध है।"

इतना सुनते ही सब लोग रोने लगे। सभी ने एक स्वर मे कहा—"सीताजी गंगाजल के समान शुद्ध हैं। जिन्होंने उनके सम्बन्ध मे बुरी बात कही हो उनकी जिह्वा गिर जाय।"

फिर हनुमान् जी खड़े हुए। उन्होंने कहा—"रघुनदन! ये अवश्य आपके पुत्र हैं। ससार मे आज तक कोई मुझे पराजित नहीं कर सका। किन्तु इन दोनों बच्चों ने हमारी समस्त सेना का सहार कर दिया। हम सबको मूर्छित बना दिया हमे साधारण वानरों की भाँति घोड़े की पूछ से बाँध कर ये आश्रम मे ले गये। वहाँ सीता माता ने हमे छुड़ाया उन्होने रोते-रोते हमसे कहा—"मेरे

स्वामी ने मुझे अपनी कीर्ति की रक्षा के लिये विना अपराध छोड़ दिया है। मैं तो उन्हीं की हूँ, यदि उनकी कीर्ति रक्षा में मेरा उपयोग हो, तो इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्य की क्या बात है अपने पति के लिये मैं सभी प्रकार की विडम्बना सहन करने को तैयार हूँ।" सुग्रीवजी ने भी हनुमान्जी की बातों का खड़े होकर समर्थन किया।

सबकी बात सुनकर रुँधे हुए कंठ से भगवान श्रीराम लक्ष्मणजी से बोले—"सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण ! भाई सभी की सम्मति हैं, तो तुम भगवान् वाल्मीकि के समीप जाओ यदि वे उचित समझें तो सीता को यहाँ बुलावें। सीता सबके सम्मुख अपनी शुद्धता की शपथ दे।"

यह सुनकर सभी हाय ! हाय ! करने लगे। आपस में कहने लगे। श्रीरामचन्द्रजी वैसे तो अत्यंत ही कोमल स्वभाव के हैं, किन्तु न जाने सीता के लिये इतने कठोर क्यों हो गये है। जो गंगाजल के समान विशुद्ध हैं वे सबके सम्मुख अपनी विशुद्धता की शपथ कैसे देंगी, सभी लोग सीताजी की प्रशंसा करने लगे और लव-कुश के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने लगे।

लक्ष्मणजी भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करके भगवान् वाल्मीकि के निवास स्थान पर आये और आकर बोले प्रभो! सभी प्रजा के लोगों की इच्छा से श्रीरामजी सीता को भरी सभा में सब के सम्मुख देखना चाहते हैं, यदि आप उचित समझें और आज्ञा दें तो जानकी यहाँ आवें आप अपने किसी शिष्य को भेज कर सीताजी को अपने समीप बुलालें।"

भगवान् वाल्मीकि ने कहा—"सीता तो शुद्ध है। श्रीराम तो नरनाट्य कर रहे हैं। अच्छी बात है जैसी उनकी इच्छा। जिसमे उन्हे प्रसन्नता हो। यह सीता की विडम्बना है, उसका सबसे

बड़ा अपमान है। किन्तु पतिव्रता स्त्री, पति की प्रसन्नता के लिये सब कुछ सहन करती है। राम की इच्छा है तो सीता बुलाई जाय, किन्तु शिष्य के द्वारा नहीं। सीता को तुम छोड़ आये हो तुम ही राम के उसी रथ को लेकर जाओ और उसे बुला लाओ। वह आ जायेगी मेरा ऐसा ही विश्वास है।"

मुनि की आज्ञा शिरोधार्य करके लक्ष्मण रथ लेकर स्वयं ही महामुनि वाल्मीकि के आश्रम पर गये। वहाँ तपस्वियों से घिरी हुई वल्कलवस्त्र पहिने राम विरह में दुबली हुई सीताजी बैठी थीं। लक्ष्मणजी ने दूर से ही भूमि में लोटकर उन्हें प्रणाम किया।

लक्ष्मणजी को देखकर सीताजी ने कहा—"रामानुज लक्ष्मण! कहो भैया! तुम कुशल हो न? तुम्हारे स्वामी तो अच्छी तरह से हैं न? तुम्हारा यज्ञ तो भली भाँति हो रहा है न! कुलपति भगवान् वाल्मीकि भी अपने शिष्यों सहित तुम्हारे यज्ञ को देखने गये हैं वे तो सब मुनियों के सहित कुशल हैं न? तुम रथ में चढ़कर कहाँ जा रहे हो? मुझ अभागिनि की तुम्हें कैसे याद आगई तुम मार्ग भूल कर तो इधर नहीं चले आये?"

लक्ष्मणजी ने रोते-रोते कहा—"माँ! तुम मुझे लज्जित मत करो! सेवक का धर्म बड़ा कठोर होता है। मैं राजाराम के कठोर शासन के कारण आपके दर्शन भी नहीं कर सकता। श्री रामचन्द्र आपको देखना चाहते हैं। वे देश देशान्तरों के सम्मुख समस्त ऋषि मुनियों के सम्मुख तथा प्रजा के आबाल वृद्ध नर नारियों के सम्मुख आपको विशुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं?

यह सुनकर आँसू पोंछती हुई सीताजी बोलीं—"सुमित्रानन्द-वर्धन लक्ष्मण! अब मुझे तुम्हारे स्वामी क्या देखेंगे। अब तो मैं धर्म अर्थ तथा काम से हीन होकर भिक्षुकी बनकर इस वन में अपना जीवन बिता रही हूँ। मेरे द्वारा उनकी कौन सी सेवा

होगी। सोने की सीता से वे अपना यज्ञ पूर्ण करें मैं अब कैसे यज्ञ मडप में उनकी बगल बैठ सकती हूँ। बाहर से आये हुए राजाओं के सम्मुख मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी। मेरे पिता भी यज्ञ में आये होंगे, उनके सामने मैं कैसे जा सकूँगी। लक्ष्मण मुझे लज्जित करने वहाँ क्यों ले चलते हो। विवाह के समय श्रीरामचन्द्रजी की जो मनमोहनी मूरति हृदय पटल पर अंकित हो गई है, वह मरणपर्यन्त मिट नहीं सकती। उसी का निरन्तर चिंतन करती हुई राम नाम का जप करती हुई तपस्या के द्वारा अपने शरीर को त्याग दूँगी। अब मुझे क्यों खिलौना बनाते हो क्या महाराज ने मेरे लिये आज्ञा दी है ?"

लक्ष्मणजी ने कहा—"देवि! मुझे श्रीरामचन्द्र ने आपके लिये तो आज्ञा दी नहीं। भगवान् वाल्मीकि के लिये कहा था—"वे उचित समझें तो सीताजी को बुला ले।" मुनि ने मुझ से कहा—"तुम जाओ और सीता आना चाहे तो ले आओ।" उनकी आज्ञा से मैं यहाँ आया हूँ। अब आप जो आज्ञा देंगी वह करूँगा मेरा काम तो सबकी आज्ञा पालन करना है। सब भाइयों में मैं ही ऐसा अभागा हूँ जो ऐसे कठिन कार्य मुझे ही करने ही पड़ते हैं।"

यह सुनकर अत्यत ही दीनता के स्वरों में जानकी जी बोलीं—"मेरे प्यारे देवर! देखो, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। महाराज की आज्ञा होती तो मुझे सिर के बल आना ही पड़ता। अपनी इच्छा से मै वहाँ जाना नहीं चाहती। वहाँ मुझे अब मत ले चलो। स्त्री का मुख्य प्रयोजन पुत्रोत्पत्ति ही है। सो श्रीराम का यह प्रयोजन सिद्ध हो ही चुका उनके तेज से दो पुत्र हो ही चुके। वे तुम्हारे यज्ञ में हैं ही। उन्हें यदि वे विशुद्ध समझें तो अपने समीप रख लें। मैंने धाय की भाँति लालन पालन करके उन्हें

इतना बडा कर दिया है। अब वे राज काज के योग्य वन गये हैं महाराज के कार्यों मे सहायता देंगे। अब मुझे तो यहीं पडी रहने दो। कभी सुन लेना सीता मर गई तब तुम दो आँसू बहा लेना। अब मेरी यह अतिम भेंट समझो। देवर! मैं तुम्हे दोष नही देती। मेरे भाग्य का दोष है। जैसे मैं श्रीराम की आज्ञा के अधीन हूँ वेसे ही तुम हो। तुम जाकर महाराज के चरणो मे मेरा प्रणाम कहना यज्ञ में पधारे हुए पूज्य जनो की मेरी ओर से चरणवन्दना करना मेरी देवरानियो से कुशल पूछना। अपने बच्चों से मेरा प्रेम आशीर्वाद कहना। कुश से लव से कह देना, अपने वाप के पास रहे। मेरी वे याद न करें। मैं तो उनकी धाय थी।"

इतना सुनते ही लक्ष्मण रोने लगे। उनकी हिचकियाँ बँध गई। वे बालकों की भाँति फूट-फूट कर रूदन कर रहे थे। उन्हें सान्त्वना देते हुए सीताजी कहने लगीं "लक्ष्मण! तुम पुरुष होकर भी इतने अधीर होते हो। देखो, मे अबला होकर भी अपने हृदय को पत्थर बना कर अपने पति के वियोग को इतने दिनों से सहन कर रही हूँ। जाओ, भगवान तुम्हारा भला करें। सबसे मेरा सदेश अवश्य कह देना।"

यह सुनकर लक्ष्मण जी ने जानकी को प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा करके रथ पर चढ कर वे श्रीराम के समीप आये। वहाँ आकर उन्होंने सब वृतान्त सुना दिया सुनकर श्रीरामजी स्तम्भित हो गये कुछ देर तक गभीरता पूर्वक सोचते रहे और अन्त में बोले—"लक्ष्मण! तुम फिर से जाओ। अबके सीता को मेरा सदेश सुनाना। कहना "देवि! वन में रहकर तपस्या के द्वारा तुम मुझे ही तो पाना चाहती हो। मेरे अतिरिक्त तुम्हारी और कोई अन्य गति है क्या? गर्भावस्था मे वन जाने की

इच्छा प्रकट की थी। तुमने ही कहा था मैं वन में तपसियों की मुनिपत्नियों की पूजा करूँगी। मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही तुम्हें वन में भेजा था अब बहुत दिनों तक तुमने मुनि पत्नियों की सेवा की। वन में निवास करके वहाँ का आनन्द भी लिया अब मैं ही तुम्हें पुनः बुला रहा हूँ तुम आओ। मैं मन से तो तुमसे सदा सन्तुष्ट ही हूँ। मेरा तुम्हारे प्रति पूर्ववत् ही प्रेम है यही नहीं। तुम्हारी तपस्या व्रत, तीर्थसेवन दान, धर्म, दया दाक्षिण्य तथा त्याग के कारण वह प्रेम और भी अधिक बढ़ गया है। पतिव्रता पत्नियों की पति ही गति हैं पति ही उनके सर्वस्व हैं, वे घर में रहे या वन में पति ही उनके आराधनीय हैं। अब तुम्हें मैं बुला रहा हूँ। भगवान् वाल्मीकि के साथ तुम निःसकोच मेरे समीप आओ।"

लक्ष्मणजी ने श्रीराम की बातों को ध्यानपूर्वक सुना। उन्हें धारण किया और उनकी आज्ञा से पुनः ज्यों के त्यों रथ पर बैठकर भगवान् वाल्मीकि के आश्रम पर आये। पुनः लक्ष्मण को आया देखकर सीताजी समझ गईं अब तो चलना ही होगा। लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर स्खलित वाणी से डरते-डरते श्रीरामचन्द्रजी का सम्पूर्ण सदेश सुनाया उनका शरीर काँप रहा था, नेत्रों से निरन्तर जल बह रहा था, सीताजी उनकी विवशता तथा आत्मग्लानि का अनुभव कर रही थीं। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, इतना ही कहा—"अच्छा चलती हूँ।"

कुटी में जाकर उन्होंने कुटी के अधिष्ठातृ देव को प्रणाम किया आश्रम के पालतू मृगों को प्यार किया वृक्षों की ओर सतृष्ण नयन से देखा बड़ी बूढ़ी तापसियों की चरणवन्दना की बराबर वाली मुनि पत्नियों से मिल भेंटकर वे चलने को उद्यत हुईं उनका हृदय भर रहा था।

तपस्विनी मुनिपत्नी उन्हे पहुँचाने दूर तक गईं। वे बार-बार कहतीं-"सीते! अब कब तुमसे भेंट होगी। अब तो तुम फिर राज-रानी बनोगी अब फिर इस वन मे काहे को आओगी फिर तो तुम हमे भूल ही जाओगी। जानकी सब की बात सुनतीं और रो देतीं उनकी वाणी रुक गई थी, वे एक शब्द भी नही बोल सकती थीं। आश्रम के बाहर आकर उन्होने फिर एक बार समस्त आश्रम को अंतिम प्रणाम किया और रथ पर चढ़ गईं। लक्ष्मणजी ने रथ लाकर भगवान् वाल्मीकि मुनि के आवास पर खड़ा कर दिया। कुश लव अपनी माता को आई देखकर दौड़ कर रथ के समीप पहुँच गये और माँ-माँ कहकर उनसे लिपट गये।

सीताजी ने लजाते हुए पहिले भगवान वाल्मीकि को प्रणाम किया, फिर समस्त मुनियों की चरणवन्दना करके एक ओर सिकुड़ी सिमटी सी बैठ गईं। लक्ष्मण सीताजी को उतार कर मुनि की आज्ञा लेकर चले गये। श्रीरामचन्द्रजी से जाकर उन्हे सब समाचार निवेदन किया श्रीरामचन्द्रजी ने आज्ञा दी। सीता कल मुनि के साथ भरी सभा मे आवे और अपनी शुद्धता के सम्बन्ध मे सब के सम्मुख धर्मपूर्वक शपथ दे, सेवको ने यह संदेश भगवान् वाल्मीकि के समीप पहुँचा दिया। तपोधन महर्षि ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। आज लव कुश ने बडे उल्लास के साथ माताजी को यज्ञ के सब समाचार सुनाये और यह भी कहा— "पिताजी ने हमारा गायन बड़े प्रेम से सुना और हमें बहुत-बहुत प्यार किया।"

यह सुनकर सीताजी को परमसंतोष हुआ। प्रातःकाल हुआ। ऋषि नित्यकर्मों से निवृत्त हुए, इधर श्रीरामचन्द्रजी ने भी आज सभी ऋषि मुनि, राजामहाराजाओ और प्रजा के सभी वर्गों के लोगों को विशेष रूप से बुलाया सभा

खचाखच भर गई था। उसमें किसी को आने की रोकटोक नहीं था। सबक स्थान बने हुए थे, सभी उत्सुकता पूर्वक सीताजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सहसा जनसमूह में एक बड़ा भारी कोलाहल सा मच गया। मानो अगाध समुद्र में ज्वारभाटा आया हो, कुछ लोग उचक-उचक कर देखने लगे कुछ खड़े हो गये, कुछ चिल्लाने लगे बैठ जाओ बैठ जाओ राजसिंहासन के समीप वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप विश्वामित्र, दीर्घतपा, दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन मार्कंडेय, मौद्गल्य, च्यवन, शतानन्द, भरद्वाज, गोतम, सुप्रभ, नारद पर्वत, तथा अन्यान्य ऋषि महर्षि देवर्षि राजर्षि तथा मुनि पुत्रों शिष्यप्रशिष्यों से घिरे हुए बैठे थे, उन सबने सम्मुख देखा प्रचेता के परम तेजस्वी पुत्र भगवान वाल्मीकि गम्भीरता के साथ राजसभा में प्रवेश कर रहे हैं, उनके आगे-आगे कुश और लव दोनों बच्चे हाथ में वीणा लिये हुए रामायण का गान कर रहे हैं वे उत्तरकाड के उसी प्रसग का गान कर रहे हैं, जिसमें सीताजी का परित्याग किया गया था, लक्ष्मण उन्हे निर्जन वन म छोड रहे हैं और जानकीजी रोकर पतिदेव के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रही हैं, मुनि के शात गभीर मुखमडल पर एक अपूर्व आभा छिटक रही है। वे अपने तेज के कारण सूर्य समान प्रकाशित हो रहे हैं। कुश और लव तन्मयता के साथ वीणा की ध्वनि मे अपना स्वर मिलाकर निर्भय होकर गा रहे हैं, मुनि के पीछे पीछे लज्जा से सहमी सिकुडी सीताजी हाथ जोडे हुए आ रही हैं। वे किसी की ओर दृष्टि उठाकर देखती नहीं। हृदय मे रामरूप का चिंतन करती हुई, मुख से शनैः शनैः राममत्र का जप करती हुई तथा नेत्रों से अविरल अश्रु बहाती हुई सीताजी मुनि का अनुगमन कर रहीं थीं। वे ऐसी लगती थीं

मानो ब्रह्माजी के पीछे श्रुति जा रही हे, अथवा बृहस्पति के पीछे पतिवियोग से दुखी शची देवी जा रही हो अथवा साक्षात् सजीव शान्तरस के पीछे करुणा जा रही हो। सीताजी को देख

कर सभी साधु-साधु कहने लगे, सभी रोने लगे, कोई राम के धैर्य की प्रशंसा करने लगे, कोई दोनों के प्रेम का गुणगान करने लगे चिकों में से भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की पत्नियाँ अपनी जिठानी को तापसी वेष में देखकर फूट-फूटकर रोने लगीं। राजमहल की स्त्रियाँ ढाढ़ मार कर रोने लगीं, उस सभा में कोई भी ऐसा नहीं

था, जिसका धैर्य न छूट गया हो, केवल एक श्रीरामचन्द्र ही ऐसे थे, अत्यंत गम्भीरता के साथ निर्विकार चुप चाप बैठे थे, मुनि के आदर मे तथा जगज्जननी के सत्कार के लिये सभी उठकर खड़े हो गये। श्रीरामचन्द्रजी ने सिंहासन से उठ कर मुनि का स्वागत किया उन्हे बैठने को सुंदर आसन दिया। मुनि दोनो बालकों को सम्मुख बिठाकर सब मुनियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके बैठ गये। सीताजी मुख ढाकें रोती हुई कुछ टेढ़ी होकर मुनि के सिंहासन को पकड़े हुए पीछे खड़ी थीं उन्होने मन ही मन अपने आराध्यदेव के चरण कमलो मे प्रणाम किया वे घूँघट मे से श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करना चाहती थीं, किन्तु निरंतर आँसुओं से भरे रहने के कारण वे भली भाँति श्रीरामचन्द्रजी को देख न सकीं। मुनि ने दोनो बच्चो से कहा—"पुत्रो ! तुम अपने पिता को जाकर प्रणाम करो।" मुनि की आज्ञा पाकर दोनों बच्चे सिंहासन के समीप गये। और सिर झुकाकर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों मे प्रणाम किया। मर्यादा पुरुषोत्तम ने उन बच्चो को स्पर्श नही किया बच्चे आकर पुनः मुनि के चरणों में बैठ गये।

पीछे रोती हुई खड़ी सीता को देखकर मुनि ने भर्राई हुई हुई वाणी मे कहा—"बेटी ! बैठ जाओ।

मुनि की आज्ञा पाकर बच्चो के नीचे ही मुनि के चरणों मे सीताजी बैठ गईं। वे निरंतर भूमि की ही ओर निहार रही थीं। अपने अँगूठे के नख से पृथ्वी को कुरेद रहीं थीं। मानों अपने लिये विवर खोज रही हों। कोलाहल के शान्त हो जाने पर तथा सबके यथायोग्य बैठ जाने पर वृद्ध मुनि अपने सिंहासन पर ही उठ कर खड़े हो गये। मुनि को खड़ा देखकर कोलाहल सर्वथा शांत हो गया। उस समय यदि एक सुई भी गिर पड़े तो उसका भी शब्द सुनाई दे। सभी बड़ी उत्सुकता से महामुनि भगवान्

वाल्मीकि के मुख की ओर निहार रहे थे, सभी उनके मुख से सीताजी के सम्बन्ध मे सुनने को अत्यधिक लालायित थे। मुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधित करके मेघ गम्भीर वाणी मे अपना अभिप्राय व्यक्त करना आरम्भ किया।

मुनि बोले—"राघव! यह तुम्हारी धर्मपत्नी सीता है। यह पवित्र हे निर्दोष है। यह धर्म चारिणी तथा तपस्विनी है इसने बड़े-बड़े व्रतों का पालन किया है आपने लोकापवाद के भय से इसका परित्याग किया है। यद्यपि आपको भी इसकी पवित्रता मे किसी प्रकार का सदेह नहीं, फिर भी लोक दृष्टि से आपने इसका परित्याग किया है। जब यह गर्भिणी थी, तभी इसका लक्ष्मण द्वारा मेरे आश्रम के समीप त्याग किया गया था। इसने मेरे आश्रम मे रहकर धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत किया है, इन दोनो वालकों को जन्म दिया है ये धर्म पूर्वक आपके पुत्र हैं। सीता विशुद्ध है इसमें कोई दोप नहीं। मेरा नाम वाल्मीकि है, मैं गंगातट पर रहता हूँ। प्रचेता का दशवॉ पुत्र हूँ। मैंने अपनी स्मृति मे कभी हॅसी में भी झूठ बोला हो, इस बात का मुझे स्मरण नहीं है। मैंने सहस्रों वर्षो तक घोर तपस्या की है। मुझे मेरी तपस्या का फल न मिले यदि सीता की पवित्रता मे कोई सन्देह हो। मुझे उन नरको की प्राप्ति हो जो झूठ बोलने वालो को मिलते हैं यदि सीता में कोई दोप हो तो। मैंने मनसा, वचसा तथा कर्मणा कभी कोई पाप नहीं किया है। इस धर्माचरण का मुझे कुछ भी फल प्राप्त न हो यदि सीता पापिनी हो तो। मैंने बड़े-बड़े यज्ञ और अनुष्ठानों को किया है। वे सब निष्फल हो जायें यदि सीतानिष्पाप न हो तो, मैं भूत भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातो को अपनी तपस्या के प्रभाव से जानने मे समर्थ हूँ। सीता को जब पहिले ही पहिले मैंने अपने आश्रम के निकट

देखा था, तभी मैंने इसे अपने आश्रम में आश्रय दिया। राघव! सीता धर्मचारिणी है। दशरथपुत्र! तुम्हारे पिता मेरा बड़ा सम्मान करते थे। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, सीता गंगाजल के समान पवित्र है। यह आपको ही अपना इष्टदेव तथा सर्वस्व समझती है। यह स्वयं भी आपको सबके सम्मुख अपनी पवित्रता का विश्वास दिलावेगी।"

इतना कहकर मुनि आसन पर बैठ गये। मुनि के बैठ जाने पर हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी सिंहासन से उठे। वे डर रहे थे। उनका शरीर काँप रहा था, उनके शब्द स्पष्ट नहीं निकलते थे। वे भगवान वाल्मीकि को सम्बोधन करके सीताजी की ओर देखते हुए बोले—"प्रभो! आप जो कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। आपके वचनों पर मुझे पूर्ण विश्वास है। चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, चन्द्रमा अग्नि उगलने लगे जल अपनी शीतलता के गुण को छोड़ दे यह सब संभव भी हो सकता है, किन्तु आप असत्य भाषण करें यह संभव नहीं। मुनिवर! मैं अत्यन्त अभागा हूँ, जो आप जैसे तपोधन सीता की शुद्धता के सम्बन्ध में मेरे सम्मुख इतनी बड़ी-बड़ी शपथें कर रहे हैं। स्वामिन्! मैं यह भली-भाँति जानता हूँ मेरी पत्नी पतिव्रता है, इसमें कभी कोई दोष नहीं आया है। लंका में वैदेही ने देवताओं के सम्मुख अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता प्रकट की थी। देवताओं के कहने से मैं अपनी पाप रहित पत्नी को घर ले आया था। फिर भी अपनी निर्बलता के कारण लोकापवाद के भय से मैंने इसका परित्याग कर दिया। आप चाहते तो इस अपराध के कारण मुझे शाप देकर भस्म कर देते, किन्तु आपने मेरे इस अपराध की ओर ध्यान नहीं दिया। मुझे क्षमा कर दिया और धर्मचारिणी जनकनंदिनी को आश्रय प्रदान किया। यह आपकी ही

चरणछाया मे रहकर धर्मपूर्वक रहती रही। आप तो इसके पिता हैं ही। मेरे तो आप पिता से भी बढ़कर हैं। प्रभो अपने पिताजी की गोद मे बैठ कर हमने आपके उपदेश सुने हैं। पिताजी जब हमें आपके चरणों मे डाल देते थे तब आप हमे स्नेहपूर्वक गोदी में उठा लेते थे। हमारा मुख चूमकर हमे प्यार करते थे। आप तो मेरे पिता के भी पूजनीय हैं। मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ। लोकापवाद से डर कर ही मैंने पतिप्राणा अयोनिजा जानकी का परित्याग किया है। ये दोनों मेरे पुत्र हैं इसे मै भली-भाँति जानता हूँ। मैंने सीता को न कभी अशुद्ध समझा है न अब ही समझता हूँ। फिर भी मैं उसी सीता को ग्रहण कर सकता हूँ, जिसे सभी शुद्ध कहे। एक के मन मे भी इनके प्रति सदेह रह जायगा, तो मैं इसे ग्रहण न करूँगा। सीता सबके सम्मुख अपनी शुद्धता की शपथ दे। सब इसे शुद्ध मानलें तो यह मेरी पुनः वैसी ही धर्मपत्नी हो सकती है।"

श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी कठोर बातें सुनकर सभी हाय-हाय करने लगे। सभी का चित्त दुखित हुआ। सभी रोने लगे। तब वाल्मीकिजी ने सामने गुड़िया की भाँति सिमिटी सुकुड़ी सीता से सरलतापूर्वक कहा—"बेटी! तुम सबके सामने अपनी पवित्रता के सम्बन्ध में शपथ लो। संसार समझ जाय तुम सर्वथा शुद्ध हो।"

लज्जा के कारण जिनका सिर ऊपर उठता ही नहीं था, जो आत्मग्लानि के कारण किसी को अपना मुख दिखाना नहीं चाहती थी सकोच के कारण जो गडी सी जा रही थी, विवशता के कारण जो अपने अंगो मे ही विलीन होने का प्रयास कर रही थीं वे भूमिनंदिनी वैदेही उठीं। वे काषाय वस्त्र पहिने थीं। जो बड़े कष्ट से उठ सकीं थीं। मुनि के चरणों मे प्रणाम करके वे श्रीराम-चन्द्रजी की ओर बढ़ी। दर्शक अपलक नेत्रों से सीताजी को ही

बच्चों को सम्हाले। रोते हुए मुनि ने बच्चों को पकड़ा आकाश से सेनिरंतर पुष्पों की वर्षा हो रही थी। भगवती सीता उन पुष्पों से ढक गई। सब लोग साधु-साधु, धन्य-धन्य कहने लगे। बहुत से मूर्छित होकर गिर पड़े। बहुत से विकल होकर रोने लगे। आकाश मे देवता दुदुंभि बजाते हुए कह रहे थे—"देवि! तुम धन्य हो, तुम्हारा शील और पातिव्रत अनुकरणीय है। सबके देखते-देखते सिंहासन पृथ्वी मे समाने लगा। सबके धैर्य का बाँध टूट गया। श्रीरामचन्द्रजी सीताजी को पकड़ने दौड़े तब तक सीताजी पृथ्वी मे प्रवेश कर चुकी थीं। उनकी चोटी के कुछ बाल थे।

भगवान् ने उन्हे ही पकड़ा। उससे अलसी का वृक्ष उत्पन्न हो गया, जो ससार मे सीताजी के भू प्रवेश का प्रतीक है। आज सीताजी प्रकट रूप से पृथ्वी पर नहीं हैं किन्तु उस सीता के वृक्ष को पाकर पशुओं के लिये हरा चारा लाने वाले पशुपालक बड़े प्रसन्न होते हैं और कहते हैं।

सीता माता मोहनी। करदे मेरी बौंहनी।

छप्पय

राम सभामहँ शपथ प्रचेता सुत ने दीन्हीं।
सुर नर ऋषि मुनि सबनि विशुद्धा सीता चीन्हीं॥
पाइ राम रुख सीय धरा तें बोली बानी।
पतिपरायण मोइ जननि! यदि तुमने जानी॥
तो अपने ई उदर महँ, करहु लीन अपनाउ अब।
सुनत भूमि फाटी तुरत, धँसन लगीं सिय दुखित सब॥

सीताजी के लिये भगवान् का शोक

[७०२]

तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः ॥
स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः ।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १६, १७ श्लो०)

छप्पय

निरखि निकल रघुनाथ भये साहस सब छूट्यो ।
पुरुषारथ अब घट्यो धैर्य को दृढ पुल टूट्यो ॥
प्रेम सहित ढिँग बैठि मातु सम कौन खवावै ।
हाय ? प्रिये ! कहँ गई कौन अब सीस सिरावै ॥
को रम्भा के सरिस सुख, देहि घात केहि सँग करूँ ।
जीऊँ काको मुख निरखि, कीड़ बदन काको धरूँ ॥

हमारा प्रेमी हमारे साथ रहे तो नित्य साथ रहने से उसका महत्व मालूम नहीं पडता, वह हमें साधारण व्यक्ति ही प्रतीत होता है। उससे जब वियोग हो जाता है, तो पीठ पीछे उसके गुणों का स्मरण होता है। उसकी स्मृति में हृदय रोता है। स्नेह का स्रोत उमडने लगता है।

* श्री शुकदेव जी कहते हैं— राजन ! सीताजी के विरह

मिलन की उत्कट इच्छा होती है। मिलने पर प्रथम कैसे मिलेंगे क्या-क्या बातें कहेंगे, किस प्रकार उलाहने देंगे कैसे उससे हृदय से हृदय सटा कर मिलेंगे इसी प्रकार की धुनाबुनी होती है। मिलने पर वे सभी बातें भूल जाती हैं। मुख से वाणी नहीं निकलती, अंग शिथिल हो जाते हैं, केवल हृदय से घनीभूत भाव पिघल कर जल बनकर नयनों के द्वारा बहने लगता है यदि उससे सदा के लिये वियोग हो जाय, तब तो साहस छूट जाता है। धैर्य का सुदृढ़ सेतु टूट जाता है। जिसके मिलन में जितना ही अधिक सुख होता है, उससे बिछुरने में उतना ही दुख होता है इस संयोग वियोग की शृंखला के ही कारण संसार चक्र घूम रहा है। संयोग के सुख में राग और वियोग के दुःख में द्वेष न हो तो सभी मुक्त ही न हो जायँ, फिर संसार के आवागमन में फँस कर प्राणी पग-पग पर त्रास का सामना क्यों करें। क्यों ये फिर-फिर जन्म लें, फिर जन्म लें, फिर-फिर काल के कवल बनें। स्त्री पुरुष सम्मिलन की इच्छा से ही मिथुनधर्म में अनुरक्ति होने के कारण ही संसृति है क्लेश है, आवागमन जन्म मरण का दुःख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सीताजी सहसा भूविवर में

समाचर सुनकर भगवान् रामचन्द्र जी दुखित हुए। उन्होंने अपने शोक को बुद्धि के द्वारा रोकना चाहा किन्तु ईश्वर होने पर भी वे रोकने में समर्थ न हुए। सीताजी में बहुत से गुण थे उनके सब गुणों का जब स्मरण हो आता तब वे विकल हो जाते। यह स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध ऐसा ही सर्वत्र दुख देने वाला ही है। जब इतने बड़े बड़े ईश्वर भी इस चक्कर में पड़ कर विकल हो जाते हैं तब अन्य गृहासक्त विषयी पुरुषों की तो कथा ही क्या है।

समागई। श्रीराम मुनि के सिंहासन के डंडे को पकड़ काष्ठ की मूर्ति के समान खड़े थे। वे कुछ निर्णय ही न कर सके। सीता के वियोग के कारण उनके अन्तःकरण में तूफान सा उठ रहा था। वे क्रोध और रोष के कारण काँप रहे थे। प्रियतमा के अन्तर्हित हो जाने के कारण निरंतर रो रहे थे। अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा बढ़े हुए कोप को रोकने का प्रबल प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु वे अपने को रोक न सके। जानकी के प्रेम के बाहुल्य के कारण वे अपने भाव को पचाने में समर्थ न हुए। ईश्वर होकर भी वे अपने आप पर नियन्त्रण न कर सके। वे क्रोध में भर कर बाण तानकर, पृथ्वी को सम्बोधन करके बोले—"धरा! तुम सबको धारण करने वाली कहाती हो, मेदिनी! तुम्हारा निर्माण अशुद्ध मेद के द्वारा हुआ है, वसुन्धरे! तुमने बहुत से धन को अपने भीतर धारण कर रखा है। मेरा धन तो मेरी प्रिया ही थी। तुमने मेरी प्रिया को अपने में क्यों छिपा लिया है तुम जानती नहीं मैं उसे कितना प्यार करता हूँ। राक्षसराज रावण उसे लंका में ले गया था, उसे परिवार सहित मार कर मैं वहाँ से सीता को ले आया। फिर पाताल से लाना मेरे लिये कौन कठिन है। मैं सीता के बिना रह नहीं सकता या तो तुम मेरी सीता को मुझे दे दो, नहीं तो मुझे भी ले चलो जहाँ मेरी प्राणवल्लभा है। भूदेवी! मैं तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता। तुमने यदि मेरी बात न मानीं तो मैं वन, पर्वत, नद, नदी, नगर तथा सम्पूर्ण प्राणियों सहित तुम्हें पलट दूँगा। टुकड़े टुकड़े करके तुम्हें बखेर दूँगा सीता तुम्हारे ही उदर से उत्पन्न हुई थी, वह तुम्हारी पुत्री थी, किन्तु उसके पालक पिता जनक ने धर्म पूर्वक उसे मुझे दे दिया था। अब तुम्हारा उस पर कोई अधिकार नहीं। वह मेरी है, उसके नाते से ही तुम मेरी माता के समान हो। सास

ही में तुम्हारा सम्मान करता हूँ, तुम्हारे ऊपर वाण नहीं छोडता, किन्तु तुम मेरा अपमान कर रही हो, मेरी वात पर ध्यान नहीं दे रही हो मैं तुम्हे विना मारे छोड नहीं सकता तुम्हें रसातल पहुँचा दूँगा। प्रलय के समान ससार में जल ही जल कर दूँगा। मैं अपने रोप को रोकने मे सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं अपने भावो का सवरण नहीं कर सक्ता सीता को पाने के लिये सव कुछ कर सक्ता हूँ। तुम्हें मेरी वातो की उपेक्षा न करनी चाहिये अविलम्व मेरी सहधर्मिणी को लौटा देना चाहिये। मेरे वाण अमोघ हैं, मेरी शक्ति अपार ह मेरे वल की थाह नहीं। मै सव कुछ करने में समर्थ हूँ। सीता जहाँ भी होगी, वहीं से में उसे लौटा लाऊँगा। मेरे वाणो का वेग कोई नही सह सकता। मेरे सम्मुख समर मे कोई खडा नहीं रह सकता। में सीता के लिये पागल हो रहा हूँ। मैं किसी की न सूनूँगा। सीता को प्राप्त करके ही विश्राम लूँगा। इस प्रकार क्रोध में भरकर श्री रामचन्द्रजी पृथ्वी की भर्त्सना करने लगे और वे धनुष पर वाण चडा कर पृथ्वी को रसातल में भेजने को उद्यत हो गये।

श्रीरामचन्द्रजी को क्रोध करते देख, लोक पितामह भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोक से उतर कर तुरत ही नैमिषारण्य मे आये। व हस पर वठे ही वेठे आकाश मे से कहने लगे—"राम! राम! महावाहो! आप यह क्या कर रहे हैं आप यह कैसा अलौकिक नरनाट्य कर रहे हैं। प्रभो! आप अपने सत्सरूप का स्मरण करें। आपने ही तो सूकरावतार धारण करके रसातल में गई इस पृथ्वी का उद्धार किया था, अव आप इसे पुनः रसातल मे क्यों भेजना चाहते हैं। प्रभो! आप तो रक्षक हैं, प्रतिपालक हैं। सहार का काम तो आपने शकर को दे रखा है। उत्पत्ति का काम आपने मुझे सोप रखा हैं। आप सनातन सच्चिदानन्द घन

सर्वेश्वर हैं। सीता सदा आपके साथ हैं। इनसे भला कभी पल भर को भी आपका वियोग हो सकता है। अभी प्रलय का समय नहीं है। आप क्रोध को छोड़ दें। जानकी नाग लोक में सुखी है। वे स्वर्ग में पुनः आपको प्राप्त होंगी। आप इन कुश-लव का प्रेमपूर्वक पालन करें। इनसे अपना आगे का वृत्त सुनें, प्रभो! अब आपकी लीला संवरण करने का भी समय सन्निकट ही आ चुका है।"

इतना कहकर भगवान् ब्रह्मा अपने सत्यलोक को चले गये। श्रीरामचन्द्रजी अत्यंत दुखी हुए। उन्होंने अपने रोष को रोका। वे निरंतर रोते ही रहे। यज्ञ समाप्त करके वे अवध पुरी में आये। सीता के बिना उनका चित्त सदा उदास रहता था, वे बड़े कष्ट से अपनी प्रिया के बिना समय को काटते थे।

यह सुनकर आँसू पोंछते हुए शौनक जी बोले—"सूतजी! भगवान् ने ऐसी करुणा पूर्ण लीला क्यों की। भगवान् होकर भी उन्हें अपनी प्राणप्रिया पत्नी का इस प्रकार वियोग सहना पड़ा। भगवान् को कर्म बन्धन तो है नहीं। फिर वे जीवन भर दुखी क्यों रहे। क्यों एक तुच्छ धोबी के पीछे उन्होंने अपने आनन्द को किरकिरा बना दिया। अज्ञानी लोग तो अटसट बकते ही रहते हैं, उन्हें बकने देते। आनन्द से सीताजी के साथ बिहार करते। जब इच्छा होती उनके साथ स्वधाम को सुख से पधारते। इस प्रकार स्वयं भी सदा दुखी रहे और श्रोता वक्ता पाठक और लेखकों को भी दुखी बना गये।"

यह सुनकर गंभीरता पूर्वक सूतजी बोले—"महाराज, भगवान् को क्या सुख दुःख वे तो कर्मबन्धन दुख सुख सभी से परे है। सीता तो उनकी नित्य शक्ति हैं। उनका उनसे कभी क्षणभर के लिये भी वियोग संभव नहीं। यह तो वे प्राणियों का अन्तः

करण शुद्ध करने के निमित्त हृदय की कालिख को करुणा के वारि से धोने के निमित्त ऐसी करुणा पूर्ण लीलायें किया करते हैं। जिससे हृदय का मैल पानी बनकर नेत्रों से निकल जाय। वे अपने प्रत्येक चरित्र से जीवों को शिक्षा देते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस करुणा पूर्ण कथानक से क्या शिक्षा मिल सकती है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही शिक्षा कि मनुष्य विवाह के लिये कितने उतावले बने रहते हैं। बहू का नाम सुनते ही उनके हृदय मे गुद गुदी होने लगती है। आज तक इतने विवाह हुए कोई कहदे कि विवाह करके, हमें सदा सुख ही मिला। क्षण भर का सुख सा प्रतीत होता है, नहीं तो दुख ही दुख है। इस वारे मूँड़ वाली के साथ रह कर किस पुरुष ने सुख पाया है। इस दाढ़ी मूँछों वाले दो पैर के जन्तु के साथ रह कर कौन स्त्री सर्वथा सुखी हुई है। मुनियो ! आप लोग इस विवाह के चक्कर से भले बचे। भगवान् की आप पर बड़ी कृपा है। यदि बहूरूपी बेड़ी आपके भी पैरों मे पड़ी होती तो यहाँ आनन्द से इस प्रकार सहस्रों वर्षों तक निश्चिन्त होकर भगवान की रसीली कथायें न सुनते रहते। फिर तो तेल ला, नमक ला, हल्दी ला, लकड़ी ला, चुरी ला, बीछिया ला, बेंदी ला, सुरमा ला, साड़ी ला, और न जाने क्या-क्या लाला जी जी होते रहते। कथा के लिये अवकाश ही न मिलता। कथा में बैठते भी तो चिन्ता लगी रहती, कल घर वाली कह रही थी मेरी साड़ी फट गई है, मुझे एक हार बनवा दो मेरे सिर में दर्द रहता है कोई दवा मँगा दो मुझे वाराणसी दिखा दो।" शरीर कथा में रहता मनीराम इधर-उधर बहू की चिन्ता में लगे रहते। मुनियो। स्त्रियों के साथ में यदि कुछ सुख भी है तो क्षण भर के लिये जिह्वोपस्थ का सुख है और नहीं तो

चिन्ता ही चिन्ता है। लड़की लड़के हुए तो उनके लालन पालन की चिन्ता। महाराज! आप लोग कभी उस चिन्ता का अनुभव कर ही नहीं सकते जो सयानी लड़की के पिता को होती है। लड़की बोलती नहीं। वह संकोच के कारण सम्मुख भी कम आती है। किन्तु पिता भीतर घुरता रहता है। रात्रि में उसे नींद नहीं आती। भोजन उसे अच्छा नहीं लगता किसी प्रकार योग्य वर लड़की के लिये मिले। यही दुःख उसे पीड़ा देता रहता है, जिनसे बातें करना पाप है, उनसे विनय करनी पड़ती है, उनकी १० बातें सुननी पड़ती हैं। बेटी का बाप होने से सबके सम्मुख सिर नीचा रखना पड़ता है। घर में घुसते ही घरवाली कहती— "तुम कुछ चिन्ता नहीं करते लड़की कितनी सियानी हो गई है। पास पड़ोसी मुझे थूकते हैं। न कहने के योग्य बातें कहते हैं। तुम विचार ही नहीं करते।" क्या कहूँ उस समय स्त्री पर बड़ा क्रोध आता है, वह कहती है तुम्हें चिन्ता नहीं मैं चिन्ता में घुला जाता हूँ घर मिट्टी का तो बनाया नहीं जाता। अहरे गहरे पच कल्यानी के हाथों तो लड़की दी ही नहीं जा सकती अच्छा घर हो, कुलीन घर हो। वह मिले तो विवाह हो। विवाह को चाहिये धन। धन मेरे पास है नहीं। माँगने से धन कौन देता है। धन देने की वस्तु भी नहीं। जिसे प्राणों की बाजी लगाकर बड़े-बड़े कष्ट से पैदा किया जाता है, उसे यों ही स्वेच्छा से कौन दे सकता है। धन तो दबने से ही दिया जाता है। मुझमें बल नहीं, तेज नहीं प्रभाव नहीं लोगों को प्रसन्न करने की कला नहीं फिर मुझे धन कौन दे।" इस प्रकार विवाह के पहिले ही माता-पिता को कितनी चिन्ता होती है। विवाह होते ही माता-पिता को भूल जाते हैं। एक दूसरे को सुखी करने की स्वयं सुखी रहने की चेष्टा करते हैं, किन्तु सुख कहाँ। स्त्री अत्यंत सुंदरी हुई तो उसकी रक्षा

की चिन्ता कुरूपा हुई तो स्वयं भी निराशा और लोगों की विड-म्बना सहनी पड़ती है वह अलग गुणवती हुई तो उसके संकेत पर नाचना पड़ता है। निर्गुण हुई तो रात्रि दिन झींकना पड़ता है, आज्ञा कारणी हुई तो उसके मोह में फँसना पड़ता है, लड़ाकू हुई तो नित्य झगड़ा झंझट, मारपीट का सामना करना पड़ता है। साराश कि सुख किसी प्रकार नहीं। रोगिणी हुई तो रात्रि दिन उसकी सेवा सुश्रूषा में लगा रहना पड़ता है। मदन प्रिया हुई तो वस्त्राभूषणों के जुटाने की ही चिन्ता बनी रहती है। कर्कशा हुई तो उसका वियोग खलने लगता है। इस लोक में रहने से लोक लाज का भी ध्यान रखना ही पड़ता है। सारांश यह कि यह स्त्री पुंप्रसग ऐसा है, कि सर्वत्र त्रास है, स्त्री से किसको सुख मिला। साधारण लोगों की बात छोड़ दीजिये ईश्वर की ही बात लीजिये। शिवजी ने सोचा सती के साथ सुख से समय बितावेंगे। सती आई कुछ दिन रहीं उन्होंने आते ही शिव जी की स्वतन्त्रता में विघ्न डाला बोलीं—"मुझे मेरे बाप के घर ले चलो।" लाख मना किन्तु त्रिया हठ ही जो ठहरी नहीं मानी। भोले बाबा कुछ कड़े पड़ गये। सती रानी तुनक कर अकेली ही भाग गई वहाँ बाप ने बात भी न पूछी क्रोध में जल मरीं। अब तो शिवजी की बुरा दशा हो गई। मृतक सती के शव को पीठ पर लाद कर पागलों की भाँति नाचने गाने और रोने लगे। तीनों लोक काँप उठे। विष्णु भगवान ने बीच बिचाव करके उस सती शव के टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिये। कुछ जलादिये भोले बाबा नंगे हो गये सती की चिता भस्म को लगाकर शोक में रोते रहे।

विष्णु भगवान को लक्ष्मीजी से कुछ कम दुःख नहीं हुआ है। जालधर भी समुद्र में से उत्पन्न हुआ था और लक्ष्मीजी भी उसी में से निकली थीं। जलधर सबको पीड़ा देने लगा। विष्णु

भगवान् उसे मारने चले। लक्ष्मीजी मार्ग रोककर खड़ी हो गईं। देखो, महाराज! तुमने मेरे भाई पर हाथ छोड़ा तो फिर या तो मैं ही हूँ या तुम ही हो।"

क्या करते बिचारे बोले—"अच्छी बात है नहीं मारूँगा! बहू के पीछे साले से हारना पड़ा। फँस गये।" बोले—"वर माँग भैया।" वह बोला—"तुम मेरे घर में ही रहो। पहिले घर जमाई बनकर समुद्र में रहते थे, अब साले की राजधानी में रहना पड़ा। बहूरानी जैसे नचावे वैसे नाचना ही पड़ता है। फिर वृन्दा के कारण जो कुछ हुआ भगवान को जैसा-जैसा क्लेश सहना पड़ा सभी जानते हैं। बात बढ़ाने से क्या लाभ, लक्ष्मी जी अब गले बँध गई, तो भगवान् को निभाना ही पड़ता है, नहीं तो उस चंचल महिला से उन्हें कोई सुख नहीं। उलटे नित नई बातें सुननी पड़ती हैं। अहल्या के साथ गौतमजी की जैसी दुर्दशा हुई सभी जानते हैं। कश्यपजी की इन दश पुत्रियों द्वारा कैसी छीछालेदर हुई। चन्द्रमा को बहूरानी के पीछे ही कोढ़ी होना पड़ा। कोई कह दे वह से किसी को सुख हुआ है ब्रह्माजी को अपना शरीर ही वाणी देवी के पीछे छोड़ना पड़ा। किन्तु ऐसी अन्ध परम्परा चल गई है, कि इतना सब होते हुए भी कोई मानता नहीं विवाह किये बिना।

यही दशा स्त्रियों की है। इन पुरुषों ने स्त्रियों के साथ कौन सा अच्छा बर्ताव किया है। अपने स्वार्थ के लिये ये स्त्रियों से सब काम लेते हैं, यहाँ तक की उन्हें अवसर आने पर गिरवी रख देते हैं। जिस सीता ने अपना सर्वस्व श्री राम के चरणों में समर्पित कर दिया। उसे श्रीराम ने एक धोबी की बात पर घर से उसी प्रकार निकाल फेंका जिस प्रकार दूध में से मक्खी निकाल दी जाती है। अहल्या पर भूल से अपराध बन गया, उसे पत्थर

ही बना दिया। हजारो वर्ष पाषाण प्रतिमा बनी पड़ी रही। सूर्पणखा ने प्रेम का प्रस्ताव किया था उसके बदले उसे नकटी बूची बना दिया। इसलिये न स्त्री मे पुरुष को कभी सुख मिला न पुरुष को स्त्री से। मिले भी कैसे ? सुख तो चैतन्य मे है। जिस रूप को देखकर स्त्री पुरुष पर पुरुष स्त्री पर परस्पर मे आसक्त होते है वह रूप तो बाह्य है, मास, मेदा, रक्त हाडमास के कारण हैं। जिन नेत्रो पर मनुष्य मरते हैं उनमें है क्या बाल, हाड, मास, रक्त, स्तन मास के पिंड हैं। इनमें जो सुख का अनुभव करते हैं वे भूल करते हैं बालू में घी खोजते हैं। इसीलिये पुरुषो के प्रसग मे सुख नही दुख ही दुख है। जो इस शरीर को अनित्य क्षणभगुर समझकर आत्मा से प्रेम करते हैं वे सुखी होते हैं।

श्रीरामचन्द्र जी का सीताजी से आत्मिक सम्बन्ध था। उसमें वियोग का सभावना ही नहीं। शरीर का सम्बन्ध तो अनित्य है, क्षण भगुर है दु:खदायी है। इसी बात की शिक्षा देने के लिये श्रीरामचन्द्रजी ने यह विरहनाट्य किया, नहीं तो वास्तव में देखा जाय, तो उन सुख स्वरूप भूमा पुरुष को क्या दुख क्या सुख ? कैसा वियोग कैसा सयोग। वे तो सच्चिदानद घन नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा आनद की राशि हैं। सीता तो सूर्य और प्रभा के समान सदा उनके साथ ही हैं।

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"हॉ सूतजी ! यह सब भगवान् की लीला है, क्रीडा है अब आगे क्या हुआ उस कथा को सुनाइये।"

सूतजी आह भर कर बोले—"अब महाराज ! आगे क्या हुआ। आगे तो सब खेल ही समाप्त हो गया। अच्छा सुनिये आगे की कथा कहता हूँ।

छप्पय

सुनि बिधि रघुवर शोक लोक अपनेतें आये।
करि बिनती बहु भाँति सीय सर्वस्व मनाये॥
त्यागि तुरत सब शोक बात ब्रह्माकी मानी।
यज्ञ पूर्ण करि गये दुखित रोवत रजधानी॥
सिय वियोग हिय धारि कें, राज काज ¹सबई करत।
भूले भटके से रहत, नयन नीर झर झर झरत॥

प्रभु लीला संवरण की प्रस्तावना

[७०३]

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ११ अ १८ श्लो०)

छप्पय

बरष सहसदश तीनि राजकरि राम बिताये।
एक दिवस मुनि विकट निकट रघुवर के आये॥
लखन आगमन कह्यो राम मुनि तुरत बुलाये।
इत उत शंकित चकित निरखि मुनि वचन सुनाये॥
अति रहस्य मय बात इक, कहहुँ ताहि प्रभु चित धरहिँ।
बीच आइ कोई सुनहि, ताको निश्चय वध करहिँ॥

कालस्वरूप भगवान का विधान पहिले से बना रहता है। कब तक इस प्राणी को पृथ्वी पर रहना है, कब इसका किस स्थान में, किसके द्वारा, कैसे किस समय पर अंत होना है। ये बातें सहसा नहीं हो जाती। जन्म से पहिले प्रारब्ध बन जाता है। प्रभु भी अवतार लेने के पूर्व ही निश्चय कर लेते हैं, कितने दिन

---

* शुकदेवजी कहते हैं—'राजन इसके अनन्तर भगवान् ने तेरह हजार वर्षों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए निरन्तर अग्निहोत्र किया।'

अवनि पर रहना है कहाँ-कहाँ पर क्या कार्य करना है। कब अपनी लीला को संवरण करना है। ये सब तो उनकी सुनिश्चित योजनायें हैं। जैसे बड़े आदमियों का भोजन का, शयन का, भजन पूजन का सब समय बँधा रहता है। उन्हें स्मरण रहता है, फिर भी सेवकों का यह कर्तव्य होता है, वे स्वामी को स्मरण दिलाते रहें। क्योंकि सेवा करना ही तो सेवक का धर्म है। सेवक आज्ञा नहीं देता, शिक्षा नहीं देता आग्रह नहीं करता। नम्रता पूर्वक जता देता है। स्वामी इससे सेवक पर प्रसन्न ही होता है। भगवान को जो करना होता है, उसकी भूमिका पहिले ही बाँधते हैं। जो नाच नाचना होता है, उसके अनुसार रूप पहिले ही बना लेते हैं। इसी को कार्य की प्रस्तावना कहते हैं।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! सीता जी भूविवर में समा गईं। स्वयं भूब्रह्माजी के कहने से सच्चिदानन्दघन श्रीराम शान्त हुए वे अवधपुरी में आकर राज्य करने लगे। शत्रुघ्नजी तो मथुरा में ही रहते थे। उनके लिये भगवान की ऐसी ही आज्ञा थी शेष लक्ष्मण और भरत जी अयोध्या में ही रहकर उत्तम श्लोक श्री रामचन्द्र जी की उपासना में निरतर लगे रहते थे। भगवान् नित्य ही सावधानी के साथ अग्निहोत्र करते थे। उनकी अग्निहोत्र की अग्नियाँ सदा पूजित और सुसज्जित रहती थीं। प्रजा के साथ वे न्याय किया करते थे। प्रजा की प्रसन्नता के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर थे। त्रेतायुग में वर्णाश्रम धर्म का ही प्राधान्य था। उस समय घोर तप करना ब्राह्मण और क्षत्रियों के ही लिये विहित समझा जाता था। सत्युग में केवल ब्राह्मण ही तप कर सकते थे। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र स्वधर्म पालन करते हुए अपने-अपने कर्मों में लगे रहे। त्रेता में ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों को ही तप का अधिकार प्राप्त था। द्वापर

में वैश्यों को भी तप करने की छूट थी, कलियुग में सभी वर्णों के लोग तप कर सकते हैं। यों सदाचार पूर्वक रहकर भगवान् की भक्ति तो सभी काल में सभी युगों में सभी वर्ण, सभी आश्रम के स्त्री पुरुष कर सकते हैं। ये विधान ऐसे-ऐसे तप के लिये ही हैं। जिनके द्वारा मनुष्य प्राकृत नियमों का लङ्घन करके सशरीर स्वर्गादि लोकों को जा सकते हैं। युग के विरुद्ध आचरण करना युगावतार के विरुद्ध आचरण करना है। अवतारों के अनेक भेद हैं। कोई कल्पावतार होते हैं, कोई मन्वतरावतार, कोई युगावतार कोई-कोई अंशावतार, कलावतार आवेशावतार तथा बहुत से करुणावतार होते हैं। चारों युगों में सदा उन-उन युगों के अवतार होते हैं। जैसे कपिलजी सत्ययुग के युगावतार हैं। जब-जब सत्य युग आवेगा कपिल भगवान् अवतरित होकर ज्ञान का प्रसार प्रचार करेंगे। श्रीराम त्रेता के युगावतार हैं। जब-जब त्रेतायुग आवेगा तब-तब श्रीराम अवतरित होकर अवनि पर वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को स्थापित करेंगे। सत्ययुग में धर्म अपने चारों पैरों से पूर्ण स्वस्थ रहता है। तप, शौच, दया और दान ये ही धर्म के चार पैर हैं। त्रेता में धर्म के तीन ही पैर रह जाते हैं। तप कम हो जाता है। द्वापर में दया और दान दो ही पैर अवशिष्ट रहते हैं। कलियुग में केवल दान या सत्य एक ही पैर रह जाता है वह भी अंत में नष्ट हो जाता है। इसी के अनुसार अवतार भी होते हैं। सत्ययुग में तप की प्रधानता होती है, तप ही उस युग का प्रधान धर्म है अतः भगवान् तपस्वी कपिल के रूप में अवतार लेकर तप का प्रसार करते हैं। त्रेतायुग में वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा पवित्रता की आवश्यकता होती है। इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम अवतार लेकर दृढ़ता के साथ मर्यादा का पालन करते हैं। मर्यादा भङ्ग न हो, इसके लिये न करने योग्य कार्यों को

भी करते हैं। सीताजी के त्याग में केवल मर्यादा का ही तो प्रधान कारण है। नहीं तो वे क्या जानते नहीं थे सती सीता परम पवित्र हैं, किन्तु मेरे आचरण से अन्य स्त्रियों के सम्मुख बुरा आदर्श उपस्थित न हो, इसी डर से शुद्ध होने पर भी सीता को त्याग दिया और उसके लिये कठोर वन गये। द्वापर में धर्म के तप और शौच ये दो पाद निर्बल बन जाते हैं, केवल दया दान दो पैर ही सबल होते हैं। उस समय वैदिक यज्ञ यागों का विस्तार कम हो जाता है। तांत्रिक पूजा पद्धति का प्रचार अधिक होता है। लोगों की बुद्धि अल्प हो जाती है वे अधिक ज्ञान को धारण करने मे असमर्थ हो जाते हैं, इसलिये भगवान् व्यास बन कर वेदों का विभाग करते हैं, पुराणों का प्रचार करते हैं। व्यास देव द्वापर युग के अवतार हैं। प्रत्येक द्वापर में व्यासजी का अवतार होता है। कलयुग मे तप, शौच तथा दया ये धर्म के तीनों पाद नष्ट प्रायः हो जाते हैं। केवल सत्य या दान के ही सहारे धर्म खड़ा रहता है। अन्त में वह भी नष्ट हो जाता है, तब भगवान् कल्कि अवतार लेकर दुष्टों का सहार करते हैं, धर्म की पुनः स्थापना करते हैं। फिर से सत्ययुग आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार यह युग क्रम अनादि काल से चला आ रहा है अनन्त काल तक चला जायगा। इसमें कोई परिवर्तन नहीं, कोई नूतनता नहीं, कुछ घटना बढ़ना नहीं। उनकी माया है, लीला है, क्रीड़ा है, विनोद है। बैठे ठाले का मनोरञ्जन है।

भगवान् मर्यादा की रक्षा के लिये ही इतने कठोर कार्य करते हैं। उनमे सीताजी का परित्याग अत्यन्त ही कठोर है। ऐसा ही एक निर्दयतापूर्ण कार्य श्री राम ने एक शूद्र तपस्वी की हत्या करके किया था।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् ने शूद्र तापस की हत्या क्यों की ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! सुनिये मैं इस कथा को संक्षेप में सुनाता हूँ। एक दिन एक तेजस्वी वृद्ध ब्राह्मण अपने एक मृतक पुत्र को लेकर श्री रामचन्द्रजी के द्वार पर आया और रोता-रोता बोला—"राघव ! मेरा यह छोटा सा बच्चा मेरे सामने ही अकाल में काल कवलित कैसे हो गया। बाप के सम्मुख बेटा का मरना तो पाप का फल है। मैंने तो अपनी स्मृति में कभी कोई पाप किया नहीं। निश्चय ही यह राजा के पाप का परिणाम है जिस राजा के राज्य में अधर्म अन्याय होता है, उसी के राज्य में अकाल मृत्यु आदि मर्यादा हीन कार्य होते है। इसलिये आप या तो मेरे पुत्र को जिला दें, नहीं तो मैं अपनी स्त्री के साथ आपके द्वार पर अनशन करके प्राणों का परित्याग कर दूँगा। तब तुम ब्रह्महत्या को लेकर सुखी होना।"

इतना सुनते ही भगवान् घबरा गये। उन्होंने तुरन्त आठ वेदज्ञ विधान वेत्ता विद्वानों की एक निर्णय समिति बनाई। मार्कण्डेय, मोद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यान, जाबालि, गौतम और नारद ये आठ उस समिति के सदस्य थे। भगवान् ने तुरन्त ही उनसे अपना सहेतुक निर्णय देने की प्रार्थना की। इस समिति के संभवतया नारद जी ही सभापति थे। अतः सबसे पूँछ ताँछ कर उन्होंने निर्णय दिया—"राघव ! आपके राज्य में युग धर्म के विरुद्ध एक शूद्र सशरीर स्वर्ग जाने के लिये उग्र तपस्या कर रहा है। उसी की घोर तपस्या के कारण वातावरण अशांत हो गया है। वह शूद्र तपस्वी कलियुग में ऐसी तपस्या करता तो न्याय युक्त था। जैसी तपस्या वह अब कर रहा है वैसी यदि सत्ययुग में क्षत्रिय भी करता तो यह दंडनीय समझा जाता। रामचन्द्र !

समय-समय की रागिनी ही शोभा देती है। जाड़े में ही कम्बल और ऊनी कपड़े सुखकर होते हैं। जेष्ठ वैशाख की कड़ी धूप में इन्हें पहिने तो कष्ट होगा। देखने वालों को भी बुरा लगेगा। राजा प्रजा से कर लेता है, अतः उसके पुण्य पाप का भी भागी होता है। इसलिये यह आपका ही दोष समझा जायगा। उस शूद्र को घोर तप से निवृत्त करें न माने तो उसे मार दें। तभी यह बालक जीवित हो जायगा।"

इतना सुनते ही भगवान् ने तुरंत अपना वायुयान पुष्पक-विमान मँगाया और उस पर चढ़ कर शर्र से सम्बूक के समीप पहुँच गये। वह एक सुंदर सरोवर के समीप उलटा लटक कर घोर तप कर रहा था। रामचन्द्रजी ने उसका परिचय पूछा उसने सब बात सच-सच बता दी श्रीरामने कहा—"भैया! यह युगधर्म के विरुद्ध है।" उसने कहा—"राघव! मैं सत्य प्रतिज्ञ हूँ, झूठ नहीं बोलता मेरी हठ है, मैं बिना मरे इसी शरीर से सीधा स्वर्ग जाना चाहता हूँ।" रामचन्द्र अब क्या करते। तुरन्त उन्होंने चमचमाता खड्ग निकाला। हाथ काँपने लगे। भगवान् ने कहा—"अरे हाथ! जब तैंने दोष रहित सीता को लोकरंजन के लिये सदा को निकाल दिया तब फिर तू इस तपस्वी पर क्यो दया करता है, तू तो अत्यन्त कठोर है।" इस प्रकार मन को समझा कर भगवान् मन में सोचने लगे—"ये लोग इसे तपस्या करके स्वर्ग जाने के विरुद्ध हैं तो तपसी को सशरीर स्वर्ग न जाने दें। मैं इसे स्वर्ग से भी बढ़ कर मोक्ष देता हूँ। मेरे अस्त्र से मर कर सभी मेरे परम धाम को ही जाते हैं। इसे मैं तुरन्त ही अपने धाम को भेजता हूँ। यह सोचकर खड्ग से उसका सिर धड़ से पृथक् कर दिया। शम्बूक भगवान् के भुवन मोहन रूप के दर्शन करते-करते तनु त्याग कर भगवद्धाम को चला गया।" —

हैं। बहुतों के प्राण ले लेते हैं। जिसने दीनता धारण कर ली है, अपने को चराचर का सेवक माने बैठा है, उससे कौन विरोध करेगा। इसीलिये भगवद्भक्ति में सभी का अधिकार है। सब काल में सब दशाओं मे सभी लोग सदा भगवद्भक्ति कर सकते हैं। स्वर्ग तो एक प्रकार की प्रतिष्ठा है। यह भी बन्धन है। भगवान् तो बन्धन को काटने वाले हैं। अतः सम्बूक को मारकर उस ब्राह्मण को भी प्रसन्न कर दिया और उसका भी कल्याण कर दिया। भगवान के सभी कार्यों मे सभी का हित छिपा रहता है। हम अपने अज्ञान वश उसे अनुभव नहीं करते।"

भगवान मे पक्षपात तो है नहीं। वे सबकी सुनते हैं। जैसे उन्होंने ब्राह्मण की सुनी, वैसे ही कुत्ते की भी बात ब्राह्मण के विरुद्ध सुनी।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कुत्ते ने ब्राह्मण के विरुद्ध क्या अभियोग चलाया था उसमे भगवान् ने क्या निर्णय दिया। कृपा करके इस कथा को भी सुनाइये।"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज! एक दिन लक्ष्मणजी ने देखा, एक कुत्ता रोता चिल्लाता राजा रामचन्द्रजी के द्वार पर खड़ा है, वह श्रीरामचन्द्रजी से मिलने के लिये उत्सुकता प्रकट कर रहा है।" लक्ष्मणजी ने जाकर श्रीरामचन्द्रजी से निवेदन किया—"प्रभो! एक कुत्ता आपके दर्शन करना चाहता है। उसका एक अभियोग है।"

भगवान् ने कहा—"लक्ष्मण! तुरन्त उस कुत्ते को बुला लाओ जो राजा दुखियों के दुःख नहीं सुनता, उसे नरक जाना पड़ता है।"

यह सुनकर लक्ष्मण तुरन्त गये और उस कुत्ते को साथ लेकर आये। कुत्ते ने रोते-रोते मानवी भाषा में कहा—"प्रभो!

उस ब्राह्मण ने मुझे बुरी तरह से मारा है। मारते-मारते मेरी कमर तोड दी है। मैंने न उसका कोई अपराध किया, न उसकी किसी वस्तु में मुँह ही डाला।"

भगवान् ने उसे बुलवाया और उससे पूछा। उसने सच-सच कह दिया—"प्रभो इसने मेरा कोई अपराध तो किया नहीं था, यह मेरे सामने जीभ निकाल कर साँस ले रहा था। मुझे किसी बात पर क्रोध आ रहा था, वह मैंने इसके ऊपर निकाला। एक लाठी मार दी, कमर टूट गई होगी। इसके लिये आप मुझे जो दड दें वह स्वीकार है।"

यह सुनकर भगवान एक निर्णय समिति बनाने लगे, कि यह समिति जो दड निश्चय करे वह इस ब्राह्मण को दिया जाय। इतने मे ही कुत्ता बोला—"प्रभो आप मेरी प्रथम सम्मति सुन लीजिये, तब निर्णय समिति नियुक्त कीजिये। मैं इसके लिये एक दड बताये देता हूँ।"

भगवान् ने उत्सुकता के साथ कहा—"हाँ, हाँ, अच्छा तुम ही बताओ इसे क्या दड दिया जाय ?"

कुत्ता बोला—"प्रभो! इन्हे अमुक मठ का मठाधीश महन्त बना दिया जाय।"

यह सुनकर सभी हँसने लगे और बोले—"यह दड हुआ या पुरस्कार। उस मठ मे लाखों की सम्पत्ति है। सहस्रों रुपयों की आय है उसका महन्त बनकर तो यह सुखोपभोग करेगा।"

कुत्ते ने कहा—"यही तो महाराज मैं-चाहता हूँ। पूर्व जन्म मे मैं भी एक मठका मठाधीश महन्त था। बडे सुंदर-सुंदर माल उडाता था। चेले चेलियों से कमर दबाता था। घर-घर खाता फिरता था और छिप कर पाप करता था। उसी के परिणाम स्वरूप मेरी कमर तोडी गई। टुकड़े-टुकडे को तरसता हूँ। महन्त

बनने में सुख कहाँ । बडा बनना बहुत बुरा हे । बडे बनने मे बडा कष्ट हे । पहिले पानी मे भिगोते है फिर फूलते हैं, फिर उनकी चमडी उधेडी जाती हे, शिल वट्टे से पीसे जाते हैं । गरम तेल में तले जाते हैं, तब जाकर बडे बनते हैं । लोग उन्हे गप्प से खाजाते हैं । देखने में इन बडे पेट वालों को सुख है । वास्तव में ये बडे दुखी हैं । आप इन्हे मठाधीश बना दें ।"

भगवान् ने कुत्ते का निर्णय स्वीकार किया और उसे बडी धूमधाम से हाथी पर चढाकर एक बडे मठका मठाधीश बना दिया । इस प्रकार भगवान् नित्य नई-नई लीलायें करते रहते थे ।

एक दिन की बात हे, एक महर्षि राजद्वार पर आया । वह बडा ही तेजस्वी, प्रकाशमान, प्रभावशाली तथा गम्भीर था । आते ही उसने गम्भीरता के साथ लक्ष्मण से कहा—"कुमार ! मै महामहिम परम तेजस्वी महर्षि अतिबल का दूत हूँ । श्रीरामचन्द्र जी से मिलना चाहता हूँ । महाराज की मेरे लिये क्या आज्ञा है आप ही उनसे जाकर निवेदन करें ।"

"बहुत अच्छा, ब्रह्मन् ! मैं अभी जाता हूँ" इतना कह कर लक्ष्मण तुरन्त राजारामचन्द्रजी के निकट गये और बोले—"प्रभो ! महर्षि अतिबल के दूत एक परम तेजस्वी तपस्वी आपसे मिलने आये हैं, उनके लिये क्या आज्ञा होती हे ?"

महर्षि का आगमन सुनकर श्रीराम ने कहा—"तुरन्त ही उन ऋषि को मेरे समीप ले आओ ।"

आज्ञा पाते ही लक्ष्मणजी पुनः आये और आदर सहित बोले—"पधारिये महाराज आपको बुला रहे हैं ।"

लक्ष्मण की बात सुनकर अतिबल महर्षि के शिष्य उनके पीछे-पीछे राजमहल मे गये । श्रीरामचन्द्रजी ने उठकर उनका आदर किया । पाद्य अर्घ्य देकर उनकी पूजा की । सुवर्ण के

सिंहासन पर सादर बिठाकर सरलता के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मेरी यह जानने की उत्कट इच्छा है, कि महर्षि अति बलजी ने मेरे लिये क्या सन्देश भेजा है। आप जैसे तेजस्वी तपस्वी को उन्होंने दूत बनाकर भेजा है, इससे तो प्रतीत होता है कार्य कोई बड़ा ही महत्वपूर्ण है।"

महाराज रामचन्द्र की बातें सुनकर महर्षि ने कहा—"हाँ, प्रभो! मैं एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण आवश्यक कार्य से आया हूँ आप यदि सुनने को उद्यत हों तो कहूँ ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ कहिये।"

महर्षि ने रहस्यभरी दृष्टि से इधर-उधर देखकर कहा—"बात बहुत ही गुप्त है। वह सर्वथा एकान्त में ही कही जा सकती है। आप प्रतिज्ञा करें कि हमारी आपकी बात को कोई न सुनेगा और हमारे आपके वार्ता करते समय कोई बीच में आवेगा यदि कोई हमारी बात सुने या हमारे आपके बीच में आ जाये, तो आप उसका वध करेंगे। इतना आश्वासन मिलने पर ही मैं निवेदन करूँगा।"

यह सुनकर भगवान् ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! द्वार पर से द्वारपाल को हटा दो। तुम स्वयं द्वारपाल का काम करो। देखो, सावधानी से काम करना। जब तक हम और मुनि बात करते रहें तब तक भीतर कोई आने न पावे। यदि कोई भीतर आगया, तो मैं उसका निश्चय ही वध कर दूँगा। मैं मुनि के सम्मुख सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।"

लक्ष्मणजी ने सिर झुकाकर भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की। वे भगवान् को प्रणाम करके चले गये। द्वार पर जाकर

द्वारपाल को हटा दिया और स्वयं धनुप वाण धारण करके बड़ी तत्परता से द्वार की रक्षा करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वह मुनि और कोई नहीं था, स्वयं साक्षात् काल ही मुनि का वेप बनाकर श्रीराम को परमधाम पधारने की स्मृति दिलाने आया था। एकान्त समझकर कालदेव ने अपना अभिप्राय प्रकट करना आरम्भ किया।

छप्पय

पण प्रभु करि स्वीकार द्वारपै लखन विठाये।
पुनि मुनि सन प्रभु कह्यो काल किहि कारन आये॥
समय समुझि के काल वेष मुनि को धरि आयो।
प्रभु आयसु सिर धारि ब्रह्म सन्देश सुनायो॥
अशनियुत अवतार धरि, भार उतार्यो अवनिको।
नियत काल जितनो कर्यो, भयो पूर्ण सो सवनको॥

लक्ष्मणजी का श्रीराम द्वारा परित्याग

[७०४]

न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृत कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १९ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

अब इच्छा यदि होइ नाथ ! निज धाम पधारें ।
करि नरतनु सवरन नित्यलीला विस्तारें ॥
कृपायतन सुनि काल कथन बोले मृदु बानी ।
तिरोभाव तिथि काल प्रथम हम सबने जानी ॥
कही कालतैं प्रभु-करहुँ, होनें जातें जगत हित ।
तबई आये द्वारपै, क्रोधी दुर्वासा कुपित ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! आत्मवान् धीर पुरुषों के आत्मस्वरूप परम प्रियतम भगवान् वासुदेव तीनों लोकों की किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं हैं। अतः न तो उन्हें जानकी के वियोग का दुःख ही हो सकता था और न वे अपने भाई लक्ष्मणजी का परित्याग ही कर सकते थे ॥६॥

और चाहे कोई प्रमाद भले ही करे, किन्तु काल कभी प्रमाद नहीं करता। वह अप्रमत्त भाव से अपना कार्य करता रहता है। सब संसार काल के अधीन है, काल के विरुद्ध कोई भी कुछ करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। काल समस्त बलवानों से श्रेष्ठ बलवान् है। सब शासकों से श्रेष्ठ शासक है। उसकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। काल भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् की इच्छा का ही पालन करता है। भगवान् के रुख को ही देखकर व्यवहार करता है। भक्त और भगवान् दो को छोड़कर सम्पूर्ण संसार काल के अधीन हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एकान्त पाकर मुनि रूप में आया हुआ काल भगवान् से कहने लगा। लक्ष्मणजी द्वार पर बैठे पहरा दे रहे थे, कि काल और भगवान् की गुप्त बात को कोई सुनने न पावे न इन दोनों की वार्ता के बीच में उनके समीप जाने पावे।

काल ने कहा—"प्रभो! मैं काल हूँ। ब्रह्माजी की आज्ञा से आपकी सेवा में आया हूँ। ब्रह्माजी ने कहा है—"आपने मुझे सृष्टि कार्य में नियुक्त किया है, अतः मैं आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। आप रावणादि राक्षसों के अन्यायों से पीड़ित पृथ्वी का भार उतारने कुछ समय का संकेत करके अवनि पर अवतरित हुए थे। जितने समय का आपका संकेत था, वह पूरा हो रहा है। हम आपसे आग्रह नहीं करते। न आज्ञा ही देते हैं। आप तो काल के भी काल हैं, केवल स्मरण मात्र दिलाते हैं। यदि आपकी इच्छा हो, अपनी नरलीला को संवरण करके नित्य सनातन धाम में स्थित होकर नित्य क्रीड़ा करें। यदि कुछ दिन आपकी और इच्छा हो, तो आप और प्रजा को सुख दें।"

भगवान् ने कहा—"कालदेव! मुझे स्मरण है। ब्रह्माजी जैसा

चाहते हैं, वैसा ही होगा मैं अब अपनी लीला को संवरण करने करने ही वाला हूँ ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इधर तो काल और भगवान् के बीच में ये बातें हो रहीं थी, उधर द्वार पर महा क्रोधी रुद्रावतार भगवान् दुर्वासाजी अपनी जटाओं को बखेरे हुए आये । उन्हें देखकर लक्ष्मणजी ने उठकर श्रद्धा भक्ति सहित उनके चरणों में प्रणाम किया ।"

अधिकार के स्वर में मुनि दुर्वासा बोले—"सौमित्रे ! मैं राजा राम से मिलना चाहता हूँ । तुम उन्हें तुरन्त जाकर मेरे आने की सूचना दो ।"

लक्ष्मणजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से मधुर वाणी में कहा—"भगवन् ! श्रीराम इस समय किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं । जो भी आज्ञा हो आप मुझसे कहें । मैं सब सेवा करने को प्रस्तुत हूँ ।"

डाँट कर दुर्वासामुनि ने कहा—"तुम बड़ी अशिष्टता कर रहे हो । मैंने कह तो दिया । मुझे राम से ही काम है । तुमसे मैं नहीं कह सकता । जाओ ! राम को मेरा आगमन जताओ ।"

काँपते हुए लक्ष्मण बोले—"प्रभो ! आप क्षणभर ठहर जायँ । महाराज एक अत्यन्त निजी कार्य में एकान्त में हैं ।"

ओठ काट कर दाँत कटकटाते हुए, लाल-लाल आँखें निकाल कर अत्यन्त क्रोध के साथ बोले—"क्षत्रिय के छोकरे ! प्रतीत होता है, तू मेरे तप, तेज से सर्वथा अनभिज्ञ है । तभी तू ऐसी धृष्टता कर रहा है । याद रख मेरा नाम दुर्वासा है । शाप ही मेरा अस्त्र है । मेरी तनिक सी अवहेलना करने पर इन्द्र को श्रीहीन होकर मारे-मारे फिरना पड़ा था । तू मेरे सामने उत्तर दे रहा है । यदि तू अभी राम के पास न गया तो तेरे राज्य को तेरी समस्त

पुरी को तेरे बाल बच्चों को, तुझे और राम को सभी को मैं शाप देकर भस्म करता हूँ।"

यह सुनकर लक्ष्मणजी डर गये। उन्होंने बलाबल पर विचार किया। वे सोचने लगे—"इन क्रोधी मुनि के लिये कुछ भी असम्भव नहीं। ये चाहें सो कर सकते हैं। यदि मैं नहीं जाता, तो ये सम्पूर्ण राज्य को भस्म कर देंगे। जाता हूँ तो केवल मेरा ही श्रीरामचन्द्रजी वध करेंगे। एक के मरने से बहुतों का जीवन बचे, तो एक को मर जाना चाहिये। इसलिये मैं जाकर श्रीराम को सूचना दे दूँ।"

यह सोचकर उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"अच्छा भगवन्! जैसी आज्ञा। मैं महाराज के समीप जाकर आपके आगमन की सूचना देता हूँ।"

यह कहकर वे भीतर गये। मुनि के वेष में काल, भगवान् से बातें कर रहा था। सहसा लक्ष्मणजी को बीच में आते देखकर काल चुप हो गया और रहस्य भरी दृष्टि से लक्ष्मणजी की ओर देखने लगा। लक्ष्मणजी पर काल की दृष्टि पड गई, किन्तु उन्होंने उसकी ओर देखा भी नहीं, वे श्रीरामचन्द्रजी से बोले—"प्रभो महामुनि दुर्वासा द्वार पर खड़े आप से मिलने के लिये अत्यन्त उत्सुक हैं।"

दुर्वासा का नाम सुनते ही काल प्रसन्न हुआ। उसने मनही मन सोचा—"मेरा तो काम हो गया!" भगवान् भी दुर्वासा मुनि का नाम सुनते ही घबरा से गये। उन्होंने कहा—"महामुनि को तुरन्त मेरे पास लाओ।"

आज्ञा पाते ही लक्ष्मण दुर्वासाजी को लेने चले। इधर भगवान् ने शीघ्रता पूर्वक काल को विदा किया। भगवान् की आज्ञा पाकर मुनि वेषधारी काल चला गया। लक्ष्मणजी ने

दुर्वासामुनि से कहा—"प्रभो ! पधारें महाराज आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

यह सुनते ही रोप मे भरे दुर्वासाजी चले। हाथ जोड़े हुए लक्ष्मणजी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्हें बड़ी उत्सुकता थी, मुनि का ऐसा क्या आवश्यक कार्य है, जो क्षणभर भी रुकने को उद्यत नहीं। कोई बहुत ही आवश्यक कार्य होगा, तभी तो उन्होंने मुझे बताया नहीं।

इस प्रकार सोचते हुए लक्ष्मणजी मुनि को लिये हुए श्रीराम चन्द्रजी के निकट पहुँचे। मुनि को आये देखकर भगवान् ने उनके पर धोये पूजा की और कुशल प्रश्न पूछ कर उनके आने का कारण जानना चाहा।

भगवान् की पूजा को विधिवत् स्वीकार करके महामुनि दुर्वासा बोले--"राघव ! मैंने सहस्र वर्ष का उपवास व्रत किया था आज उस व्रत की समाप्ती है। अतः मैं आपसे भोजन माँगने आया हूँ। कुछ विशेप प्रबन्ध करने की आवश्यता नहीं। तुम्हारे चौके मे जो तत्काल तैयार हो उसे ही खिलाकर मुझे तृप्त करो।"

यह सुनकर लक्ष्मण जी को हँसी आई। उन्होने माथा ठोका और सोचा—"मुनि की कैसी विचित्र बुद्धि है। भोजन ही माँगना था, तो मुझसे ही कह देते। मैं भोजन नहीं करा सकता था क्या। इस छोटी सी बात के लिये मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग कराई। मुनि की इस बात पर लक्ष्मणजी को एक कहानी याद आई। किसी ने उन्हे सुनाई थी। सरयू के इस पार एक गडरिया भेड चरा रहा था। दूसरा गडरिया उस पार था। श्रावण भादौं की सरयू बढ़ी हुई थीं। अथाह जल था। इस पार के गडरिया ने उस पार के गडरिया को पुकारा—"अरे, भाई ! यहाँ आओ तुमसे एक बहुत

ही आवश्यक बात पूछनी है ।"

उसने कहा—"भाई ! आऊँ कैसे बीच मे तो सरयू की धारा है । तुम्हे जो पूछना हो, वही से पूछो ।"

इस पार के गड़रिया ने कहा—"नहीं, भाई ! कार्य बडा आवश्यक है । तुम जैसे हो तैसे मेरे समीप आओ । कान मे ही पूछने की बात है । बिचारा गड़रिया क्या करता । जैसे तैसे वह सरयू को पार करके उसके पास पहुँचा और बोला—"कहो, क्या पूछना है ?"

वह उसके कान में पूछता है—"यह पूछना है, कि कल भेड़ किस ओर चराने ले जाओगे ।"

उस गडरिये को बडा क्रोध आया । वह बोला—"धत्तेरे की ! यह कौन सी रहस्य की बात थी, वही से पूछ लेता । मुझे व्यर्थ इतना कष्ट दिया ।"

लक्ष्मणजी सोच रहे है, मुनि के लिये क्या कहे, भोजन माँगने के लिये इतना बखेड़ा खड़ा कर दिया । भगवान् ने तुरन्त ही मुनि को अत्यन्त आदर से षटरस भोजन कराया । तृप्ति पूर्वक भगवान् के प्रसाद को पाकर प्रसन्नता पूर्वक मुनि प्रभु से अनुमति लेकर अपने आश्रम मे चले गये ।

मुनि के चले जाने पर भगवान् को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ । उन्हे काल की भयङ्कर मूर्ति स्मरण हो आई । जगत् उन्हें सूना ही सूना दिखाई देने लगा । वे सोचने लगे—"इन हाथों ने सीता का निर्वासन किया तपस्वी सम्बूक का सिर धड़ से पृथक् किया, अब अपने प्राणों से भी प्यारे बन्धु का वध इन्हीं हाथों से करना होगा । हाय ! काल कैसा निर्दयी है । न करने योग्य कार्यों को मुझसे कराना चाहता है । जो छाया की भाँति सदा दुख मे साथ रहा । जिसने कभी सुख देखा नहीं ।

जीवन भर मेरी आलस्य छोड़कर सेवा की आज उसे उसकी सेवा का पुरस्कार यह देना है कि उसके सिर को धड़ से पृथक् करना है। यह क्रूर कार्य मुझसे न होगा। प्रतिज्ञा जाती है तो जाओ।" ऐसी अनेकों बातें सोचते-सोचते श्रीरामचन्द्र अत्यन्त ही दुखित हुए।

उन्हें दुखित देखकर हँसते हुए लक्ष्मणजी बोले—"प्रभो! आप अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करें। जो अनार्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता वह पापी रौरवादि नरकों की अग्नि मे निरन्तर पचाया जाता है, प्रभो! आप निःशंक होकर मेरा अपने हाथों से वध करें मुझे प्रसन्नता है, कि मेरे वध से सम्पूर्ण कुल बच जायगा।"

यह सुनकर भगवान् और भी दुखी हुए। उन्होंने अपने जावाल, कश्यप तथा वशिष्ठादि वेदज्ञ मंत्री ऋषियों को बुलाया। सभी समाचार सुनकर सबके सब सन्न हो गये। किसी के मुख से एक भी शब्द न निकला। उस निस्तब्धता को भङ्ग करते हुए भगवान् वशिष्ठ बोले—"राम! प्रतिज्ञा पालन ही धर्म है। आप सत्य प्रतिज्ञ हैं, आप अपनी प्रतिज्ञा को न तोड़े। आज तक आपके द्वारा कभी मर्यादा के विरुद्ध कार्य नहीं हुआ है। आपने कभी अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी है। अब तो काल सन्निकट आ गया है। मैं दिव्य दृष्टि से उसे देख रहा हूँ।"

श्रीरामचन्द्रजी ने रोते-रोते कहा—"प्रभो मैं प्राणों से भी प्यारे अपने भाई लक्ष्मण का वध कैसे कर सकता हूँ।"

इस पर वशिष्ठजी बोले—"राम भद्र! सुनिये। शस्त्र का वध ही वध नहीं कहलाता। राजा की आज्ञा को भङ्ग करदो, राजा का वध हो गया। स्त्री को शैय्या से पृथक् कर दो उसका वध हो गया। ब्राह्मण का मूड़ मुड़ाकर धन छीन कर देश से निकाल दो।

यह उसका वध ही है। इसी प्रकार अपने भाई का सुहृद् का परित्याग कर देना उसके वध के ही समान है। आप लक्ष्मण का परित्याग कर दें। आप से पृथक् रह कर लक्ष्मण जीवित ही नहीं रह सकते।"

यह सुनकर रोते-रोते कड़ा हृदय करके श्रीरामचन्द्रजी अपने छोटे भाई सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण बोले—"सौमित्रे! मैंने अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के निमित्त तुम्हारा परित्याग कर दिया। तुम अब जहाँ चाहो जा सकते हो।"

इतना सुनते ही लक्ष्मणजी के नेत्रों से अश्रुओं की दो धारायें बहने लगीं। रोते-रोते उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी की प्रदक्षिणा की और वे हाथ जोड़कर भूमि में प्रणाम करके महल से निकल पड़े। वे सीधे सरयू तट आये। अपने घर भी किसी से मिलने नहीं गये। सरयू तट पर आकर बिना अन्न जल ग्रहण किये वे सरयू के जल में समाधि लगाकर बैठ गये। उन्होंने साँस लेना सर्वथा बन्द कर दिया था। वे रामरूप का चिन्तन करते हुए तन्मय हो गये इन्द्र उन्हें सशरीर विमान पर चढाकर स्वर्ग ले गया। अयोध्यावासी किसी भी स्त्री पुरुषों ने न तो इन्द्र को ले जाते ही देखा और न बहुत ढूंढने पर सरयू जी में उनका शरीर ही मिला। मिले कहाँ से वह तो चिन्मय हो गया था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के परित्याग करने पर लक्ष्मणजी सशरीर परलोक पधार गये। श्री लक्ष्मणजी का तिरोभाव सुनकर श्री रामचन्द्रजी अत्यत ही दुखित हुए और वे लम्बी-लम्बी सासें लेने लगे। उनका धैर्य टूट गया था। सम्पूर्ण ससार उन्हें सूना दिखाई देता था।

छप्पय

रामचन्द्रतें मिलहुँ कहैं पुनि पुनि दुर्वासा।
मुनि नहिं माने लखन गये तजि जीवन आशा॥
बुलवाये मुनि विदा काल रघुवर ने कीन्हों।
करि आदर सतकार स्वाद युत भोजन दीन्हों॥
पूर्ण प्रतिज्ञा करन हित, रघुपति लछिमन तजि दये।
राम विरह में तनु सहित, दुखित लखन सुरपुर गये॥

भगवान् का परम धाम गमन

[७०५]

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ११ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

लखन विरह अति दुसह राम तेहि सहि न सके जब।
लव कुश कीन्हें नृपति चले वन धन जन तजि सब ॥
भरत शत्रुहन संग चले पुर के नरनारी।
खग, मृग, बानर, वृत्त भीर लागी सँग भारी ॥
राम प्रेम के पाश महँ, बँधे चले सब हरषिकें।
अति प्रमुदित सुरपति भये, हरष जतावें बरषिकें ॥

जीव के सहज सुहृद श्रीराम हैं। राम को छोड़कर जो काम के वशीभूत हो जाते हैं, विषयों के संग रम जाते हैं वे ८४ के चक्कर में फँस जाते हैं। योगी लोग आँख कान आदि इन्द्रियों को

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन ! समस्त नरनाट्य करने के अनन्तर स्मरण करने वाले अपने भक्तों के हृदय में उन पाद पल्लवों को स्थापित करके जो अति कोमल होने पर भी दण्ड कारण्य के काँटों से विद्ध है— श्रीरामचन्द्रजी अपने परम धाम को पधार गये।

मूँद कर, एकान्त मे बिना कुछ देखे, बिना कुछ सुने, बिना खाये पाये इसीलिये बैठे रहते हैं, कि हम पुनः संसार के आवागमन में न फँसे। हमारा इस जनम मरन से सदा के लिये छुटकारा हो जाय। इसके लिये वे घोर तप करते हैं। संसृति का कारण शरीर ही है, शरीर सुख के लिये ही संसार में फँसना पडता है।

इन्द्रियो का जहाँ विषयो से सम्बन्ध हुआ, वहाँ उनकी उनमें आसक्ति हुई। आसक्ति ही बन्धन का प्रधान कारण है, इसलिये वे योगी गण मन के विरुद्ध व्यवहार करते हैं, इन्द्रियों को विषय आहार न देकर उन्हे निर्बल बनाते हैं, इस प्रकार बडे कष्ट से वे साधना करते करते बहुत जन्मों मे परम पद के अधिकारी होते है। इसके अतिरिक्त भक्तो का मार्ग निराला ही है। वे जगलों मे नहीं जाते आहार नहीं छोडते। केवल अपने सब काम श्रीराम के चरणो मे अर्पण कर देते हैं। जो भी करेंगे राम की प्रसन्नता के लिये करेंगे। भोजन बनायेंगे, राम के लिये, फल लायेंगे राम के लिये। यहाँ तक की राम का ही मुख देखकर जीयेंगे राम के रूप का स्मरण करते-करते ही मरेंगे। वे सब विषयों को छोडते नहीं। विषयो के उत्पादक एक को कम कर पकड लेते हैं। उसके साथ बँध जाते हैं। जो उसकी गति सो हमारी गति। वह तो गति दाता ही है, उसकी गति क्या ? इनकी गति होती है जो बडे बडे योगियो की होती है। इन्हें वही स्थान प्राप्त होता है जो जहाँ तपस्वी योगी जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! लक्ष्मणजी परम धाम पधार गये। अब श्रीराम को कुछ भी नहीं सुहाता था। वे लक्ष्मण के सहारे ही जी रहे थे, वे ही उनके आधार थे, उनके वियोग से श्री राम अपने को आश्रयविहीन समझने लगे। वे सीताजी के वियोग को भूल गये। उन्हे लक्ष्मण की स्मृति क्षण-क्षण में दुख

देने लगी। तुरत उन्होंने मन्त्रियों पुरोहितों तथा नगर निवासियों को बुलाया और रोते-रोते बोले—"भाइयो! लक्ष्मण के बिना यह पुरी ये महल तथा यह सम्पूर्ण संसार मुझे काटने दौड़ता है। अपने भाई लक्ष्मण के बिना मैं राज महल में क्षण भर भी नहीं रह सकता। लक्ष्मण मेरे साथ-साथ वन गया था, मैं भी उसके साथ-साथ उसी लोक जाऊँगा, जहाँ वह गया है। आज भरत का अयोध्या के राज्य पर राज्याभिषेक करो। इस कार्य में देरी न होनी चाहिये। मेरी आज्ञा का अविलम्ब पालन होना चाहिये। मैं अपने बन्धु के पथ का अनुसरण करूँगा। मुझे अधिक अवकाश नहीं। समस्त सामग्रियाँ शीघ्रता के साथ मँगाई जायँ कुमारी कन्यायें बुलाई जायँ, सड़कें सजाई जायँ और तुरत राज्याभिषेक की तैयारियाँ की जायँ।"

श्री रामचन्द्रजी के ऐसे दृढ वचन सुनकर सभी को हार्दिक दुःख हुआ सभी रोने लगे, किसी के मुख से भी एक शब्द न निकला। भरतजी तो सुनते ही मूर्छित हो गये। तुरंत कुश लव ने उठकर अपने चाचा को उठाया उनके ऊपर सुगंधित जल छिडका, वायु की। कुछ-कुछ चेतना होने पर रोते-रोते भरत जी बोले—"संसार मे मैं ही सबसे अभागा हूँ। भैया लक्ष्मण ही भाग्यशाली हैं, वे वन में भी श्रीराम के छाया की भाँति आगे-आगे उनके पथ को परिष्कृत करते हुए गये और अब परलोक मे भी प्रभु से प्रथम ही पहुँच गये। मैंने न जाने पूर्व जन्म में कौन से पाप किये है जो यह राज्यसिंहासन मेरा पिंड नहीं छोड़ता। श्रीराम के विहीन अवधपुरी का १४ वर्षों तक मुझे कितने कष्टों से राजकाज देखना पडा, इसे मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है। अब भी श्रीराम मुझे ही सौंप कर परलोक जा रहे हैं। 'हे राघव'! चाहे मुझे आज्ञा उल्लंघन का महापाप ही क्या न लगे

चाहे मुझे महारोरवादि नरकों मे अनत काल तक पचना ही क्यों न पडे। मैं इस आज्ञा का पालन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। प्रभो! मेरे ऊपर कृपा करें। मुझे ऐसी कठोर आज्ञा न दें। हे अशरण शरण! मैं सत्य शपथ खाकर कहता हूँ, मैं आपके बिना अब क्षण भर भी पृथ्वी पर नहीं रह सकता। मेरे अभिषेक का आप विचार छोड दें। मुझे राजा बनना धर्म न्याय दोनों के ही प्रतिकूल है। मेरे साथ तो यह घोर अन्याय होगा। चिरजीव कुश और लव दोनों योग्य है शूर वीर हैं, न्यायतः ये दोनों ही राज्य के अधिकारी हैं, अतः कोशल से कुश का और उत्तर कोशल मे लव का आप राज्याभिषेक करें। मैं तो आपके साथ ही साथ चलूँगा।"

भरत जी की दृढ प्रतिज्ञा देखकर भगवान ने उनकी बात मान ली। लव कुश के राज्याभिषेक की तयारियाँ होने लगीं। उसी समय समस्त प्रजा रोती चिल्लाती हा राम! हा राम!! पुकारती श्रीराम के समीप आई। वे सब डकरा रहे थे, बुरी तरह रो रहे थे, बहुत से मूर्च्छित होकर पड़े थे, उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर दयालु भगवान् वशिष्ठ श्री रामचन्द्रजी से बोले—"प्रभो आप अपनी प्रजा के स्त्री पुरुषों की विनती सुनें इनके दुःखों को दूर करें। इनकी हार्दिक इच्छा को जान कर उसके अनुकूल आचरण करो। तुम सदा से इनके दुःख को दूर करते आ रहे हो।"

अपने गुरुदेव की बात सुनकर भगवान् बोले—"हाँ! प्रभो जैसी आप आज्ञा देंगे उसी का मैं पालन करूँगा। मैं अपनी प्रजा को दुखी नहीं देख सकता। इनकी अन्तिम अभिलाषा अवश्य पूर्ण की जायगी।" ऐसा कह कर भगवान् ने रोते हुए भूमि पर पड़े प्रजा के लोगों को स्वयं उठाया, उनकी धूलि झाड़ा

और अत्यन्त ही स्नेह के साथ बोले—"तुम लोग मुझ से क्या चाहते हो ?"

प्रजा के लोगों ने कहा—"प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं, सर्वस्व हैं। आप वन में सरिता तट पर ऋषि आश्रमों में जहाँ भी पधारेंगे हम आपके साथ चलेंगे। हे कृपा सिन्धो ! आप हमारा परित्याग न करें। हमें अपने चरणों की शरण में ले चलें।"

पुरवासियों का अत्यन्त आग्रह देखकर भगवान् ने उनकी विनती स्वीकार की। वे सब के सब परम हर्ष के सहित भगवान् के साथ चलने को उद्यत हो गये। इतने में ही अभिषेक की समस्त सामग्रियाँ जुट गई। भगवान् ने वेदज्ञ ब्राह्मणों के सहित कुश को कोशल पुरी में और लव का उत्तर कोशल में विधिवत् अभिषेक किया। शत्रुघ्न जी को बुलाने के लिये शीघ्र गामी घोड़ो पर बुद्धिमान् दूत भेजे गये। भगवान् ने आज्ञा दी—"शत्रुघ्न से कहो, हम लीला संवरण कर रहे हैं। वह तुरन्त आवें।"

दूतों के मुख से भगवान् के परम धाम पधारने की बात सुन कर शत्रुघ्न जी ने अपने पुरोहित तथा मन्त्रियों को बुलाया, अपने बड़े पुत्र सुबाहु को मथुरा के राज्य पर अभिषिक्त किया और दूसरे पुत्र शत्रुघाती श्रुतसेन को वैदिश देश का राज्य दिया। धन सेना आदि दोनों को बराबर बाँट कर वे अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के दर्शनों के लिये अयोध्यापुरी की ओर चलें। उन्होंने मार्ग में कहीं विश्राम नहीं किया। वे अपने भयंकर कुल क्षय के सम्वाद से चिंतित थे। कुछ ही दिनों में अयोध्या पुरी में पहुँच कर श्री रामचन्द्र जी के पादपद्मों में उन्होंने प्रणाम किया तथा भरतजी के चरण छुए। लक्ष्मण जी के परमधाम पधारने के समाचार से वे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे। उन्हें धैर्य बँधाते हुए

भगवान् ने उनसे कहा—"शत्रु तापी शत्रुघ्न ! तुम चिंता मत करो काल की तो ऐसी दुरत्य गति है।"

यह सुनकर शत्रुघ्न जी ने अत्यन्त ही दुःख के साथ कहा—"प्रभो ! मैंने आपकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं किया है, न मैं कभी आपके सम्मुख बोला ही हूँ। सदा सिर झुका कर मैंने आपकी सब आज्ञाओं का पालन किया है। एक बार अपनी अज्ञता के कारण बोला था। उसका दंड मुझे तत्काल मिल गया प्रभुपाद पद्मों से पृथक कर दिया गया। किन्तु आज मैं धृष्टता कर रहा हूँ। प्रभु से विनय कर रहा हूँ कि मुझे कोई दूसरी आज्ञा न दी जाय। मैं पुत्रों को राज्य देकर सब कार्यों से निवृत्त होकर आपके साथ चलने के लिये ही आया हूँ। आप जहाँ भी चलेंगे साथ चलूँगा। जहाँ भी आप रहेंगे साथ रहूँगा। अब मैं आपको छोड़ नहीं सकता।" शत्रुघ्न जी की ऐसी दृढ़ता देखकर श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें भी साथ चलने की अनुमति दे दी।

भगवान् के स्वधाम पधारने की प्रकट लीला संवरण करने का समाचार सर्वत्र फैल गया। सुनते हैं, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान् मयन्द, द्विविद आदि वीर वानर तुरन्त ही अयोध्यापुरी आये। राक्षसराज विभीषण भी आये। सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभो ! मैं वीरवर अंगद का राज्याभिषेक करके सब कार्यों से निश्चिन्त होकर ही यहाँ आया हूँ। आपके साथ ही चलूँगा यह मेरा दृढ़ निश्चय है।" भगवान् ने उन्हें भी साथ चलने की अनुमति दे दी।"

हनुमान् जी को अत्यन्त उदासीन होते हुए देखकर श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले—"पवनतनय ! तुम उदास क्यों हो रहे हो ! तुम तो मेरी लीला और रूप को एक ही समझते हो, संसार में जब तक मेरी लीला का प्रचार रहे-मेरी कथा रहे-तब तक तुम आनंद

से मेरे गुणों को श्रवण करते हुए पृथ्वी पर निवास करो। जहाँ भी मेरी कथा हो वहीं तुम अनेक रूप रख कर अवश्य पहुँच जाना।

फिर विभीषण जी से बोले—"राक्षस राज ! मैंने तुम्हें एक कल्प की आयु दी है, अतः तुम कल्प पर्यन्त राक्षसों का शासन करो, मेरा स्मरण करो। ये जाम्बवान्, मयन्द, द्विविद भी कलियुग पर्यन्त रहेंगे। शेष सब वानर मेरे साथ चलें।"

सभी ने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा शिरोधार्य की। इन सब बातों में उस दिन रात्रि हो गई। सभी को श्रीराम के साथ चलने की अत्यन्त प्रसन्नता थी। कोई दुखी नहीं था, किसी का चित्त उदास नहीं था, कोई घबरा नहीं रहा था। इस प्रकार उन सब नगर निवासियों ने वह रात्रि सुख पूर्वक बिताई।

प्रातःकाल होते ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर भगवान् ने पुरोहितों के द्वारा अपने अग्नि होत्र की तीनों अग्नियाँ मँगवाई। वेदज्ञ ब्राह्मण उन्हें बड़े-बड़े पात्रों में लेकर चले। भगवान् वशिष्ठ जी ने वैदिक मंत्रों द्वारा महाप्रस्थान की सम्पूर्ण क्रियायें कीं। सब क्रियायें पूर्ण होने पर श्रीरामजी ने ब्राह्मणों के पाद पद्मों में प्रणाम किया। उन सब की अनुमति लेकर वे महाप्रस्थान के लिये महलों से निकल पड़े।

श्रीरामचन्द्र जी सुन्दर पीतवस्त्र पहिने हुए थे। उनके आगे-आगे वेद मंत्रों को पढ़ते हुए ब्राह्मण चल रहे थे। पीछे प्रसन्न चित्त समस्त प्रजायें आबाल वृद्ध नर नारी वानर, तथा अन्यान्य प्राणी चल रहे थे। श्रीरामचन्द्र अत्यन्त गम्भीर भाव से जा रहे थे, वे अपने चरण कमलों में पादत्राणों को भी धारण नहीं किये हुए थे। उन्होंने मौन धारण कर लिया था। उस समय उनका तेज असह्य था वे सांसारिक कोई चेष्टा नहीं कर रहे थे। भगवान्

के दाई ओर मूर्तिमान् श्री तथा पद्म चल रहे थे। बाईं ओर भूदेवी मूर्तिमती चल रही थीं। उनकी संहारशक्ति सम्मुख आगे आगे जा रही थी भगवान् के समस्त अस्त्र शस्त्र मूर्तिमान होकर मनुष्य शरीर धारण करके आगे आगे चल रहे थे। वेद माता गायत्री देवी ओङ्कार वषट्कार ये सब के सब विप्र वेष में भगवान् का अनुगमन कर रहे थे। उस समय मानो स्वर्ग का द्वार सभी के लिये खुला हो। इसीलिये सभी अत्यन्त उत्कंठा के साथ श्रीराम चन्द्र जी के चरणों का अनुसरण कर रहे थे। ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र, बालक, वृद्ध, युवा, दास, दासी, अन्तः पुर के सेवक, राजकर्मचारी तथा अन्यान्य सभी लोग श्रीरामचन्द्र जी के साथ प्रसन्नता पूर्वक चल रहे थे, अग्नि होत्री ब्राह्मणों की पूजित अग्नियाँ उनके साथ थीं। मनुष्यों की तो बात ही क्या पशु, पक्षी, कीट पतंग भी श्रीरामचन्द्र के साथ स्नेह पूर्वक चलें। साराश उस समय अयोध्या में ऐसा एक भी साँस लेने वाला प्राणी शेष नहीं रहा जो श्रीरामचन्द्र जी के साथ न चला हो, जो दर्शन करने आये थे, वे भी साथ हो लिये। जो जिस काम को जा रहा था, वह उसी काम को छोड कर श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करते-करते उनके पीछे हो लिया। जाते हुए सभी प्राणी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। सब के मुखमडल कमल की भाँति खिल रहे थे।

इस प्रकार शनैः शनैः अवधपुरी से आधे योजन से अधिक चल कर भगवान् गोप्रतार घाट (गुप्तार घाट) के निकट पहुँचे। यहाँ उन्होंने पवित्र सलिला सरित् श्रेष्ठा सरयू को देखा। वह बडी गम्भीर थीं उसमें हिलोरे उठ रही थीं। उसका जल अमृतोपम था। वह श्रीरामचन्द्र जी के स्वागत में उछलती हुई सी दिखाई दे रही थीं। शनै शनै श्रीरामचन्द्र जी ने सब के साथ सरयू के सुन्दर स्वच्छ सलिल में श्रद्धा सहित प्रवेश किया।

उसी समय लोकपितामह ब्रह्माजी लाखों करोड़ों दिव्य विमानों को लेकर भगवान् के स्वागत के निमित्त आये। उन्होंने दूर से ही प्रार्थना की—"हे सनातन! प्रभो! आपने अत्यन्त ही अनुग्रह की। अब आप ऐसी कृपा करें, कि हमें कौतूहल न हो। आप नरनाट्य अब छोड़ दें। स्वेच्छा से जिन लोकों में आप की जाने की इच्छा हो, उन लोकों को कृतार्थ करते हुए चलें।"

भगवान ने कहा—"ब्रह्मदेव! आप जैसा कहेंगे वैसा ही होगा।" यह कह कर भगवान् अपने भाइयों के साथ दिव्य विमान पर बैठकर अपने सनातन वैष्णव धाम को चले गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् को सशरीर दिव्य विमान से जाते देखकर साध्य, मरुत, चारण, इन्द्र, अग्नि आदि सभी भगवान् की स्तुति करने लगे। गन्धर्व गाने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सर्वत्र राजारामचन्द्र की जय के शब्द से ब्रह्माण्ड भर गया।"

छप्पय

अवध पुरी तें सकल चले सियपतिहिँ धारि उर।
निखिल जीव निर्मुक्त भये सब शून्य भयो पुर॥
कीयो प्रभुपद प्रेम सफल तनु तिनने कीन्हों।
जगजीवन को लाभ जथारथ तिनही लीन्हों॥
विधि विमान अगणित लिये, सरयू तट आये तुरत।
बैठि पधारे परमपद, रघुनन्दन निज तनु सहित॥

भगवान् के साथ अन्य सभी जीवों की परमगति

[७०६]

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥ *

(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

जिहि पद पावन हेतु करहिँ जप जोग बिरागी ।
विविधि भाँति तनु कसहिँ तेज युत तपसी त्यागी ॥
सो पद पायो सहज अवधवासी जीवनि ने ।
राम कृपा तै लोक उच्चतम पायो तिनि ने ॥
पल्लो पकरें प्रेम तै, आत्म समरपन जे करहिँ ।
ते तप तीरथ जोग बिनु, भवसागर छिन महँ तरहिँ ॥

वर्षा के अनन्तर नदी तट पर बहुत से वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। कँटीले वृक्ष, झाँडियाँ, सरपत, काम घास तथा अन्य भी नाना प्रकार के झाड झंकार जम जाते हैं। किसी को कोई उत्पन्न करना

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! भगवान रामचन्द्रजी को जिन्होंने छुआ था, जिन्होंने उनके दर्शन किये थे, जिन्होने उनका सह वास अथवा अनुगमन किया था, वे समस्त कोशलपुरवासी उसी स्थान को गये जिस स्थान को बड़े-बड़े योगी जन जाते हैं।

होता है, तो उतनी ही परिमित पृथ्वी को परिस्कृत करके उसे एक सी शुद्धि कर लेते हैं। वह पृथ्वी सर्वगम्य बन जाती है। वहाँ के झाड़ झकार हट जाते हैं, किन्तु जब बाढ आती है, तो बिना परिश्रम के ही सम्पूर्ण तट प्रान्त में अन्त तक विशुद्धता छा जाती है, इसी प्रकार जब कोई आचार्य अवतरित होते है, तो अपने प्रभाव से अपने अनुयायियों को संसार सागर से पार कर देते हैं। यदि भगवान् अवतरित होते हैं तो अपने संसर्ग में रहने वाले कीट पतंग, पशु, पक्षी, सभी को मुक्त कर देते हैं। सभी के कर्म बन्धनों की बेड़ियों को काट देते हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सशरीर अपने परमधाम वैष्णव लोक में चले गये। अन्य जितने भी जीव थे, वे भी सरयू के पावन जल में प्रवेश करके अपने शरीरों का परित्याग करने लगे। सबको तनु त्याग करते देखकर भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा—"देखो ! मेरे पीछे जितने भी प्राणी आये हैं, सबकी सद्गति होना चाहिए इन सरयू के गोप्रतार घाट (गुप्ता घाट) के जल का स्पर्श जिनके शरीरों से हो जाय वे अवश्य कर्म बन्धनों से छूट जायँ।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"प्रभो ! आप ही समस्त प्राणियों की एक मात्र गति हैं। आप जिसे जो लोक देना चाहे दें। जितने ये कीट पतंग सर्प आदि तिर्यक् योनि के जीव हैं, ये सबके सब सन्तानक लोक में जायँ। यह लोक ब्रह्मलोक के ही समान शुद्ध और सनातन है। ये जितने भालू, बंदर आदि देवताओं के अंश से उत्पन्न हुए थे, वे अब तनु त्याग कर अपने-अपने अंशों में मिल जायँ। सुग्रीवजी सूर्य के अंश से उत्पन्न हुए थे, अतः ये सूर्य मंडल में प्रवेश कर जायँ। और भी सब वानर अपने अंशी देवताओं में एकीभूत हो जायँ।"

ब्रह्मा जी की बात का भगवान ने अनुमोदन किया। ब्रह्मा जी अपने साथ असंख्यों विमान लाये थे। जो भी सरयू में प्रवेश करके शरीर त्यागते वे ही दिव्य देह से विमान पर जा बैठते। विमान उन्हें लेकर दिव्यलोक में चला जाता। उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। सबकी आँखें अश्रुओं से भीग रही थीं। राम प्रेम में फँसे हुए वे सब रामनाम का उच्चारण करते हुए सरयू जल में घुस जाते। सबका पार्थिव शरीर प्राणहीन होकर सरयू में उतरने लगता और दिव्य रूप से सब परमधाम को चले जाते। इस प्रकार अयोध्या में रहने वाले जितने जीव थे सभी परमपद को प्राप्त हुए।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब अयोध्या पुरी जीवों से रिक्त हो गई, तो कुश लव ने फिर राज्य कहाँ किया। जब कोई रहा ही नहीं तो वे शासन किस पर करते रहे।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजी तो सब पहिले ही से जानते थे। अतः उन्होंने कुश को कोशल देश का राजा पहिले ही बना दिया था, उनकी राजधानी में विन्ध्य पर्वत के पास कुशावती नगरी निश्चित की। श्रीरामजी की आज्ञा शिरोधार्य करके कुश कुशावती में चले गये और वहाँ अपने मन्त्री पुरोहितों के साथ रहने लगे। इसी प्रकार लव को उत्तर कोशल का राजा बनाया उनकी राजधानी हुई श्रावस्ती। वे अपनी श्रावस्ती पुरी में रहने लगे। महाप्रयाण के समय श्रीराम की आज्ञा थी कुश लव तथा भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के पुत्रों में से कोई यहाँ न रहे। इसलिये इन आठों भाइयों में से कोई यहाँ नहीं थे। ये सब अपनी अपनी राजधानियों में थे। श्रीरामचन्द्र जी समस्त अयोध्यापुरी को खाली करके परम धाम पधारे। बहुत दिनों तक अयोध्या पुरी श्रीराम वियोग में उजाड़ ही पड़ी रही। वहाँ घोर

बन हो गया था। पीछे रघुवंशी राजाओं ने आकर उसका पुनः जीर्णोद्वार किया। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी १३ हजार वर्षों तक नरनाट्य करके परमधाम को पधारे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आप ने राम चरित्र की समाप्ति दुःख में की दुःखान्त काव्य की मनीषियों ने प्रशंसा नहीं की है। हमारे यहाँ प्राचीन परिपाटी है, कैसा भी कारुणिक आख्यान क्यों हो, अंत में उसका अवसान सुख में करते हैं। नायक का वियोग वर्णन करके अन्त में कहीं न कहीं उसका संयोग अवश्य करते हैं। वियोग में तड़पा कर नायक नायिका को छोड़ना यह रस शास्त्र के विरुद्ध है। आपने तो इस उपाख्यान की अत्यंत कारुणिक स्थल पर समाप्ति की।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! श्रीराम कोई साधारण नायक तो हैं ही नहीं वे तो जगन्नियन्ता हैं। इस चराचर जगत् के एक मात्र सूत्रधार हैं। वे ही सृष्टि स्थिति और प्रलय के स्वामी हैं। श्रीसीताजी उनकी नित्य शक्ति हैं वे सदा उनके साथ रहती हैं। उनका कभी श्रीराम से वियोग होता ही नहीं। अयोध्यापुरी भी कभी रिक्त नहीं होती। जैसे राम नित्य हैं। वैसे ही उनका धाम नित्य है। त्रेतायुग की एक रामनवमी को ही राम का अवतार हुआ हो, सो बात नहीं। जब-जब चैत्र में रामनवमी आती है, तब-तब उनका अवतार होता है, उनका अवतार विवाह, वनगमन, राज्यारोहण, नित्य ही होता है। राम और धाम की भाँति उनकी लीला भी नित्य है। श्रीराम कभी बूढ़े नहीं होते उनके न कभी दाढ़ी मूछें आती हैं और न उनके कभी झुर्रियाँ ही पड़ती हैं। वे सदा १६ वर्ष के युवक बने रहते हैं। उनके रूप में कभी परिवर्तन नहीं होता। अवस्थाओं का उनके शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि उनका शरीर प्राकृतिक न होकर

चिन्मय है। अतः नाम रूप तथा लीला की भाँति उनका रूप भी नित्य है। वह कभी ढलता नहीं नित्य नूतन दिखाई देता है। इसी प्रकार श्रीसीताजी भी नित्य किशोरी ही बनी रहती हैं। यह जुगल जोडी सदा अवधपुरी के कनक महल में कमनीय क्रीडा करती रहती हैं। सेविकायें नित्य सखी इनकी परिचर्या में सलग्न रहती हैं। वे नित्य सखी धन्य हैं जो प्रिया प्रियतम की सेवा में रहकर महल में टहल करके दिव्य सुख का अनुभव करती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस गुप्ता घाट की लीला से हमारा चित्त उद्विग्न सा हो गया है। फिर से एक बार संक्षेप में उसकी समाप्ति करें।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं सुखान्त रामचरित का संक्षिप्त वर्णन करके इस पुण्य प्रसग को समाप्त करूँगा।"

छप्पय

बिरहमोहिँ अवसान चरित रघुनंदन को सुनि।
शौनक अति ई दुखित सूतजी तैं बोले पुनि॥
सूत! चरित दुःखान्त नेक नहिँ हमहिँ सुहावे।
सुमिरि राम निर्वाण हृदय पुनि पुनि भरि आवे॥
सब सुनि बोले सूतजी, मुनिवर! राम अखंड अज।
तिनकी आद्या शक्ति सिय, जाहिँ कबहुँ नहिँ तिनहिँ तज॥

[७०७]

धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः ।
स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषण भूषणैः ॥
तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

सुनहु सुखान्त चरित्र राम स्वामी त्रिभुवन के।
भरत लखन रिपुदलन रहैं आज्ञामहँ तिनके॥
पतिकूँ सरबसु समुझि सदा सीया सुख पावें।
राम निरखि सिय कमल वदन छिन-छिन हरषावें॥
कनक भवन अतिई सुघर, सब सामग्री सुखद जहँ।
हरषित ह्वै रघुवंशमनि, रमन करहिँ सिय संग तहँ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! श्रीरामचन्द्रजी के कनक-भवन को सेवकों ने सुगन्धित धूप दीपों तथा पुष्पमय आभूषणों से भली भाँति सजाया था। आभूषण उसके कारण विभूषित होते थे, उसमें रहने वाले दास दासी देवताओं के समान सुन्दर थे। उस भव्य भवन में पुरुषऋषभ आत्माराम जितेन्द्रिय भगवान् राम अपनी अभिमता प्रियतमा जनकनन्दिनी के साथ रमण करते थे।"

मनुष्य जो खाता है, वही अपने देवताओं को भोग लगाता है। जिसे जो सम्बन्ध प्रिय होता है, वही सम्बन्ध भगवान् से स्थापित करता है। भगवान् तो सबके स्वामी हैं। संसार में ५ ही सम्बन्ध हैं। ईश्वर और जीवका सम्बन्ध, मित्र मित्र का सम्बन्ध, स्वामी सेवक का सम्बन्ध, पुत्र पिता का सम्बन्ध और पति पत्नी का सम्बन्ध सब सम्बन्ध इन्हीं के अन्तर्गत हैं। अतः भगवान् में शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुर सम्बन्ध स्थापित करके रति करते हैं। संसारी सम्बन्ध शरीर के नष्ट होने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु भगवान् का श्रीविग्रह तो चिन्मय है, वह कभी नष्ट नहीं होता, अतः भगवान् के साथ किया सम्बन्ध नित्य होता है, स्थाई होता है अटूट होता है। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, भगवान् भी उनके लिये वैसे ही बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् का प्रादुर्भाव अवध में हुआ आप यह न समझें कि पहले अवध में नहीं थे, फिर कहीं से बालक बनकर अवध में आये होंगे। वे तो नित्य अवध में ही निवास करते हैं। आविर्भाव तिरोभाव केवल रस की वृद्धि के लिये होता रहता है। वह तो एक अवस्था है। चक्रवर्ती महाराज दशरथ की पटरानी कौशिल्या देवी के उदर से अवतरित हुए। उनके शेष तीन अंश भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न केकेयी और सुमित्रा नाम वाली रानियों से उत्पन्न हुए। बालक बनकर भोरे भाले राम चकित-चकित दृष्टि से इधर उधर खेलते। इधर से उधर एक गोद से दूसरी गोद, दूसरी गोद से तीसरी गोद में जाते, सबके चित्त को चुराते, सबको हँसाते, सबका मन बहलाते, मनहर बाललीला दिखाते, कभी रोते, कभी गाते, कभी पालनों में सो जाते, कभी उठकर पैर फटफटाते, कभी माँ-माँ कहकर कौशल्या को बुलाते, कभी अपने बूढ़े बाप की गोद में चल

जाते। उनकी छाती से चिपट जाते, उनके साथ दूध भात खाते, फिर खाते-खाते भाग जाते, बालकों के साथ खेलते हुए कोलाहल मचाते। अपनी माता को बहुत खिजाते, पकड़ ही मे न आते, दूर से ही सैंन चलाते, समीप नहीं आते, भरत शत्रुघ्न लक्ष्मणजी को भी बुलाते। और भी सब सखा जुट जाते, विविध प्रकार के खेल बनाते, तीर कमान चलाते किसी को घोड़ा बनाकर उसी पर चढ़ जाते। उसे कोड़े मार-मार कर दौड़ाते।

"भगवान् होकर ऐसी लीलायें क्यों करते थे, जी! देखो जी, अब तुम प्रत्येक बात मे क्यों-क्यों मत किया करो। खेल मे क्यों नहीं पूछी जाती। तुमने किसी से प्रेम किया हो तो समझें। प्रेम में यह बात न सोची जाती है न पूछी जाती है। प्रेम मे तो जो भी अट सट बात मुहमें आ जाती है, कह दी जाती है। हमारा प्रेमी जो करे वही सुन्दर है वही मन को हरने वाला है। हमारे प्रेमी के मुख से जो भी शब्द निकले वही अमृत है, उसकी वाणी मे शब्द घुलकर सरस बन जाता है। साँभर की झील मे जो भी वस्तु डालता वही साँभर बन जायगी। भगवान् जो भी करेंगे सुन्दर करेंगे शिव करेंगे कल्याणप्रद करेंगे। वे जो भी रूप बना लेंगे वही मनोहर होगा। मुँह मे कालिख लगा ले तो वह कालिख भी खिल जायगी। तन में धूरि लपेट लेंगे तो उसी से उनकी शोभा को देखकर शोभारानी लज्जित होकर घूँघट काढ लेगी। राम क्यों करते हैं, अच्छा इसका भी उत्तर सुन लो, वे सुख के लिये करते हैं, प्राणियों को ससार से पार करने के लिये करते हैं और रहस्य की बात तो यह है, वे भक्तों को आनन्द देने के लिये करते हैं। क्यो सत्य है न? तुम सत्य मानो मत मानो उनके यहाँ तो सब सत्य ही हैं। क्योंकि वे सत्य-स्वरूप हैं। असत्य से उनकी भेंट नहीं हुई। ये देखो छोटे से

मुनमुना न बनते तो पुत्र बनकर कौशल्या दशरथ को सुख कैसे देते। इसलिये उन्हें सुख देने को बालक बन गये। माता के दूध को चुसर-चुसर करके पीते, भूख लगने पर रोने लगते। माता की छाती से चिपट जाते, मचल जाते। उनका पल्ला पकड़ लेते। माता को निहाल कर देते। बड़ी-बड़ी आँखो में माँ मोटा मोटा काजर लगा देतीं। बाईं ओर बड़ा सा दिठोना लगा देतीं। मेरे राम को नजर न लग जाय। कैसी क्रीडा है। जिसकी दृष्टि से ससार विलीन हो जाता है। अचर मचर हो जाते हैं। सचर अचर होकर विलीन हो जाते हैं। माता उनका रक्षा के लिये काजर का दिठौना लगातीं हैं बगनखा पहिनातीं हैं, कि भूत प्रेत पिशाच की बाधा न हो। राम डर न जाय। माता पिता को जब सुख दे चुके तो अब सखाओं की बारी आई। सख्य रस की भी तो अभिव्यक्ति करनी है। घुटुअन से अब पाँ पाँ पैया चलने लगे। मित्रता जोडने की योग्यता आ गई। सखाओं के गलो मे गलबैयाँ डालकर घुल घुल कर बातें करने लगे। सखाओं की दृष्टि मे वे बडे थे। माता पिता की दृष्टि में वे सदा बालक ही बने रहे। जब बच्चों मे आये तो जोट बनाने लगे। यह उनकी जोट का यह उनके जोडे का, खेल खेलने लगे। सबके हृदय मे घुस कर रस की धारा बहाने लगे। ससार में जिसने सख्य सुख का अनुभव नहीं किया उसने कुछ नहीं किया। सख्य सुख उस कहते हैं दो देहो मे एक से ही प्राण सचारन करें। प्रेमी सखाओं की दृष्टि मे तो राम सदा वैसे ही हैं। वे तो उनके लँगोटिया यार हैं। उन्हे बालकराम या राजराम से कोई काम नहीं हैं। वे तो राम हमारे सखा हैं इतना ही जानते हैं। किन्तु राम तो बढते जाते हैं। वे बढे बिना मानते नहीं। छोटे हैं तो बढने ही चाहिये। युवक हो गये। युवक क्यों हुए जी ?"

फिर वही बात ? अरे भाई, इन चूडी बीछिया नथ वाली अपनी जीवराशि को भी तो उन्हें सुख देना हैं। स्त्रियों की आँखें युवाओं के ही ऊपर जाती हैं। उनकी नित्यशक्ति जानकी जी जनकपुर में ये अवधपुर में। मिलना कैसे हो। दुल्हा बिना बने मिलन होता नहीं केवल दूल्हा बनने से भी तो काम नहीं बन सकता जब तक दुलहिन न बने। जिन्हें ब्रह्म को दूल्हा रूप से पाना है, उन्हें नाक छिदानी पडेगी चूडी बीछिया पहिनने पडेंगे। माँग में सिंदूर लगाना पडेगा। हाव भाव कटाक्ष छोडते हुए घूँघट की ओट में से चोट मार कर दूल्हा को लोट पोट करने की शक्ति प्राप्त करनी होगी। तभी तो वह पाणिग्रहण करेगा। अपरिचित को अपना लेना सहज काम नहीं है।

राम दूल्हा बनकर जनकपुर जाते है। सबको सुख देते है, सीताजी को अपनाते हैं। उनके साथ आनन्द विहार करते हैं। दूल्हा राम को देख कर बहुत से मनचले, पुरुष भी मूँछ मुडा कर साडी पहिन कर सखी बन जाते हैं। और कोई दूसरा हो तो दुतकार दें। चलो हटो बनावटी सखी का वेष बना लिया है। किन्तु राम तो बनावट को भी यथार्थ मान लेते हैं। वे बडे दयालु हैं, बडे सरस हैं, किन्तु सरस ससुराल में ही हैं। राज सिंहासन पर बैठकर तो बडे कठोर हो जाते हैं। इसीलिये मिथिला भावना के उपासकों का कहना है कि विवाह करके श्रीराम मिथिला से कभी अवध गये ही नहीं। ससुराल में ही बस गये ससुर के घर का निवास स्वर्ग से भी बढ कर है, फिर इन्हें तो ससुराल मे रहने की सनातन बान पडी है। समुद्र की बेटी लक्ष्मी से विवाह किया समुद्र मे ही बस गये। शिव रूप में हिमालय की पुत्री पार्वती का पाणिग्रहण करके उसी के घर में सदा के लिये रह गये। इसी प्रकार सीता को लेकर जनकपुर में

ही एक महल बनाकर सुख से रहने लगे। चलो, रावण वध सीता परित्याग संसार भर की खटपट से बच गये। नित्य विवाह नित्य भाँवर नित्य ज्योनार, नित्य कुँवर कलेऊ नित्य मिलनी ये ही होता रहे। सालियों के लिये हँसी ठट्ठा का अवसर मिल गया। इधर से निकलीं दो मीठी बातें सुना गईं। उधर से आईं दो चटपटी बातें कह दीं। राम मुसकरा गये, उन्हें मानों पारितोषिक मिल गया। इसलिये मिथिला उपासना के भक्त विवाह के आगे की लीला पढ़ते ही नहीं। विवाह के पश्चात् कुछ हुआ हो तो पढ़े भी संसार में मुख्य वस्तु तो विवाह ही हैं। विवाह हुआ मानों सब कुछ हो गया। अब तो सुख ही सुख है, जो वर्णन की वस्तु नहीं अवर्णनीय विषय है। किन्तु अन्य भक्त अपने राम को घर जमाई कैसे देख सकते हैं। घर जमाई शब्द सुनते ही वे घबरा जाते हैं, भला दुलहिन के घर में हमारे राम रहेंगे। नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। राम को विवाह करने का अधिकार ही नहीं। यह काम तो दशरथ जी का है वशिष्ठ विश्वामित्र आदि बड़ों का है। अकेले राम ससुराल में पैर भी नहीं रख सकते। हाँ दश पाँच बार आना जाना हो जाय संकोच दूर हो जाय उसकी दूसरी बात है। नहीं जहाँ पग-पग पर संकोच वहाँ मेरे संकोची राम अकेले जा सकते हैं। वे भला विवाह की बात मुख से निकाल सकते हैं। उन्हें पता भी चल जाय मेरे विवाह की बात है, तो वे जनकपुर जाते भी नहीं। पक्षियों को मालूम पड़ जाय कि इन दानों में जाल बिछा है तो वे उन दानों को लेने ही न जायँ, किन्तु फँसाने वाले बहेलिया तो बड़ी बुद्धिमानी से बुलाकर फँसाते हैं। बूढ़े बाबा विश्वामित्र बोले—"बेटा ! जनकपुर में एक यज्ञ है देखने चलोगे।" चलो बाबाजी ! भोले राम को यज्ञ में क्या आपत्ति थी ! उन्हें यह क्या

पता इसके भीतर कोई रहस्य है। भोले-भाले ही ठहरे। जैसे बच्चे को चढावा देने को कहते हैं—"अच्छा देखो, यदि तुम उस काम को कर दो तो तुम्हे जाने, कैसे बहादुर हो।" बच्चे चढावे मे आकर कर देते हैं। श्रीरामचन्द्रजी से भी कहा—"तुम शिव-धनुष को चढा सकते हो राम? राम बोले—"मैं चढा ही नहीं सकता, तोड भी सकता हूँ मरोड भी सकता हूँ, टुकडे-टुकडे भी कर सकता हूँ।" अच्छा करो तो सही, देखे तुम्हारी वीरता।" राम ने धनुष को तोडा फँस गये। दशरथजी आ गये, या चुपके से बुलवा लिये। आपस मे जाने क्या साँठि गाँठि हो गई। धर दिया राम के सिर पर मुहर। बडो के सामने बोल भी नहीं सकते। राम ने सिर झुका दिया। उसी दिन से दूल्हा नीचे सिर झुकाये हुए ही चलता है। बहुत से स्थान में फूलों से उसका मुँह भी ढक देते हैं। बाँध दी उनके गले मे जनक नन्दिनी।" अब कब तक यहाँ रहना है, राम सोचते, किन्तु बोलते नहीं। दोनों समधी-समधी निपट लें। जाने आने के सम्बन्ध मे दूल्हे को बोलने का कोई अधिकार ही नहीं। एक दिन रथ पर बैठ कर बहू के साथ चल दिये। महलों मे आये। मातायें हर्ष के मारे फूली न समाईं। जो भी पूजा करें गाँठ जोड कर करें। दोनों को पास बिठा कर ही सब काम करावें। तुम जानते ही हो पास रहते-रहते प्रेम हो ही जाता है। सीताजी से रामजी प्रेम करने लगे। फिर वह प्रेम ऐसा बढा कि एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते थे।

जहाँ दो बर्तन रहते हैं खटकते ही है। सौत सौतों में मनमुटाव हो ही जाता है। रामचन्द्र को इस कलह को शान्त करने कुछ दिनो के लिये बन जाना पडा। उसमें कुछ राजनैतिक काम भी थे। रावणादि दुष्ट राजा प्रजाओं पर अत्याचार करते। उन्हें भी

वश मे करना था। त्याग से झगड़ा शान्त हो जाता है। रावण को मारकर श्रीराम लौट आये। आकर अवधपुरी में राजा हुये। सिंहासनासीन हुये। अब राजा होकर राजों के से सभी खेल करने चाहिये। भाइयो से कहा—"चारों दिशाओं मे जाओ। पृथ्वी पर दिग्विजय करो। मैं यहाँ पुरी की रक्षा करता हूँ पुरवासियो तथा अनुचरों का पालन पोपण करता हूँ।" भाई दिग्विजय के लिये गये और अब आपकी नित्य ही बड़ी धूम धाम से सवारी निकलने लगी। चातक की भाँति सभी प्रजा के जन दर्शनो को लालायित रहते। यद्यपि नित्य ही सवारी निकलती, किन्तु वह एक दिन उन्हे कोटि कल्पों के समान प्रतीत होता। रात्रिभर सोचते रहते। कब प्रातःकाल हो और कब राजारामचन्द्रजी की सवारी के दर्शन करें।

प्रातः काल होते ही सभी अपने-अपने घरों के सामने लीपते, चौक पूजते, वेल बूटे बनाते सड़कें स्वच्छ सुगन्धित जल से सींची जातीं। इधर से उधर मतवाले हाथी घूमते। उनके गडस्थलों से वह-वह कर मद पृथ्वी पर पड़ जाता। उसकी सुगंधि से वायु सुगंधित बन जाती। उस समय वह समस्त पुरी ऐसी प्रतीत होती थी, मानो सज बज कर सोलह शृंगार करके नायिका अपने नायक की प्रतीक्षा मे बैठी हो। अवधपुरी के समस्त महलों के शिखरों पर, पुर द्वार, सभा, चैत्य तथा देवालयों पर बड़े-बड़े कलश झलमल-झलमल करते हुए चमकते थे। समस्त पुरी पुण्य-पताकाओं के फहराने से हिलती डुलती और किलोल करती सी दिखाई देती थी। सड़कें स्वच्छ करके नित्य सुंदरता के साथ सावधानी से सजाई जातीं। घर-घर कदली के फलदार वृक्ष शोभित थे। सुपारी, नारियल तथा ताड़ के पंक्तिवद्ध लम्बे-लम्बे वृक्ष खड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कहीं-कहीं वस्त्रों से दरवाजे

बनाये जाते। उनमें बड़े-बड़े शीशे लगाये जाते, जिसमें जो चाहे अपना मुख देख लो मुख देखने की सभी को स्वाभाविक इच्छा होती है चाहे कैसा भी काना खुदरा मुख क्यों न हो। वह पुरी नित्य उत्सवमयी सी दिखाई देती थी। स्थान-स्थान पर नित्य चन्दनवार बँधते थे। श्रीराम की सवारी निकलते ही सभी नर नारी आगे आकर हाथों में नाना उपहार लिये हुए खड़े हो जाते। वे सब लोग अञ्जलि बाँधे हुए स्तुति करते—"हे प्रभो! पूर्वकाल में वराह वेष बनाकर इस वसुन्धरा का आपने उद्धार किया था। अब राजा बनकर आप ही इसका निरन्तर पालन करें। इसी प्रकार हमें सदा सुख देते रहें।"

श्रीरामचन्द्रजी की सवारी नित्य ही निकलती थी, नित्य ही वे पुरवासियों को अपने दर्शन देते थे, किन्तु तो भी सबको ऐसा ही प्रतीत होता, मानो हमारे स्वामी चिरकाल में लौटे हैं, नित्य ही उनकी सवारी में झाँकी में नूतनता दिखाई देती। जो राजपथों के दोनों ओर आकर खड़े हो सकते थे, वे तो पहिले से ही आकर खड़े हो जाते। जो कुलवती महिलायें होतीं वे अपने गृहकार्यों को छोड़कर अटारियों पर चढ़ जातीं। ओखा मोखा, झार झरोखाओं से घूँघट को हटाकर कमल नयन श्रीराम की झाँकी करतीं और अतृप्त नयनों से अपलक निहारती रहतीं। अपने हृदय के मधुर भावों को सुमन बरषा कर अभिव्यक्त करतीं।

इस प्रकार सबको दर्शन देते हुए नगर की प्रदक्षिणा करके पुनः अपने पूर्ववर्ती पिता, पितामह, प्रपितामह आदि महिपालों से सेवित सुखकर सुन्दर समस्त सामग्रियों से सम्पन्न अनन्त कोशों से परिपूर्ण महलों में प्रवेश करते। इन्द्र के भवन को भी तिरस्कृत करने वाले उन महलों की शोभा का वर्णन कौन कर सकता है।

उनके द्वारों की देहली विद्रुम मणियों से बनी हुई थीं। स्थान स्थान पर जो स्तम्भ लगे थे, वे काष्ठ पाषाण के नहीं बने थे। वे सब वदूर्य मणियों के बनाये हुए थे। जिनमें जाने वालों के प्रतिबिम्ब दिखाई देते थे। नीचे के फरस स्वच्छ मरकत मणिया को जड़ कर बनाये गये थे। उन महलों की भीतें स्फटिक मणियों की थीं। वे सुन्दर कलामर्मज्ञों के द्वारा सुन्दरतापूर्ण सजाये गये थे। रंग बिरंगी सुंदर सुंदर मालायें यथा स्थान उनमें टाँगी गई थीं। बहुरंगी पताकाओं से भवन सुशोभित थे। नाना रंग के रेशमी वस्त्रों से वे स्थान-स्थान पर आच्छादित थे। घरों के द्वारों के परदे बहुमूल्य पतले रेशमी वस्त्रों के बने हुए थे। शुभ्र स्वच्छ मोतियों की झालरें लटकी हुई थीं। स्थान-स्थान पर सभी इन्द्रियों को सुखकर सामग्रियाँ सजी सजाई रखी थीं। स्थान-स्थान पर अत्यन्त सुगन्धित धूप का धूम हो रहा था। सुगन्धियुक्त तेलों के तथा मणियों के दीपक जल रहे थे। पुष्पों की कलियों के गजरे बनाकर वे टेढे मेढे सुन्दरता पूर्वक लगाये गये थे। वे भवन इतने भव्य थे कि सामग्रियों के सजाने से ही वे सुन्दर प्रतीत नहीं होते थे, । अपितु उनके सौन्दर्य के कारण ही ये सब सामग्रियाँ शोभा को प्राप्त हो रही थीं। वहाँ के जितने सेवक थे सभी सुन्दर थे। सेविकाओं के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं वे तो स्वर्गीय ललनाओं के सौन्दर्यगर्व को भी खर्व करने वाली थीं। सभी नई अवस्था वाली श्यामा थीं। सभी के शरीरों से कमल की सी गन्ध आती थी। सभी सुहासनी और मनभावनी थीं। आभूषणों को भी विभूषित करने वाले उनके सुन्दर सुकुमार मनोज्ञ अनुपम अंग थे। ऐसे सजे सजाये महलों में श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रिया जनक नन्दिनी के साथ निरन्तर विहार करते। श्रीराम आत्माराम हैं, वे अपनी आत्मा में ही रमण करते हैं।

भवन मोहन रूप दिखाया। उन्हीं की ललित लीलाओं के लोभ से मैं अब आगे बढ़ता हूँ।"

शौनकजी बोले—"तो, हाँ सूतजी ! अब आप उसी अवतार की अनुपम लीलाओं की कथायें सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! अभी कैसे सुनाऊँ अभी तो मेरी भूमिका ही समाप्त नहीं हुई। मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने श्रीमद् भागवत में १२ स्कन्ध बनाये हैं। उनमे दशम ही प्रधान है। दशम की विशुद्धि के निमित्त ही इन ९ स्कन्धों का वर्णन है प्रथम आप नवम की सब कथायें सुन लें, तब दशम की कथा कहूँगा। हाँ एक बात तो रह गई। मैंने इस परम पावन रामचरित का माहात्म्य तो कहा ही नहीं।

शौनकजी बोले—"सूतजी ! माहात्म्य अवश्य कहे। दान देकर दान का माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। माहात्म्य तो आप पहिले ही सुना देते तो उत्तम था। कोई बात नहीं। अब ही सुनादो जिसे सुनकर रामचरित श्रवण तथा पठन में पुनः पुनः प्रवृत्ति हो।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! अब मैं रामचरित के श्रवण पठन का माहात्म्य सुनाता हूँ। उसे आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

राम मातु पितु सुहृद् सखा स्वामी बनि जावें।
पति, परमेश्वर, पुत्र रूप धरि सबहि कहावें॥
जो जैसे हो भजें भजें वे ताही तैसें।
क्रीड़ा अनुपम करें भक्त पावें सुख जैसें॥
मन विषयनि तें मोडिकें, प्रभु सेवा संलग्न चित।
ते रघुवर लीला लखहिं, कनकभवन महँ होति नित॥

रामचरित माहात्म्य

[७०८]

पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥*
(श्री भ० ६ स्क० ११ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

रामचरित जे पुरुष प्रेम तें पढ़ें पढ़ावें ।
तिनके छूटें बन्ध परम पदवी ते पावें ॥
श्रवनि पुटनितें पिये हिये आवे कोमलता ।
मिटहिँ कठिनता निखिल होहि जीवनमहँ मृदुता ॥
नितप्रति नवदिन नियमतें, रामायण जे नर सुनहिँ ।
ते न भूलि भवजाल महँ, श्रवन रसिक कबहुँ फँसहिँ ॥

माहात्म्य बिना सुने वस्तु में अनुरक्ति नहीं होती। सम्मुख अमृत रखा है, यदि हम उसका महत्व नहीं जानते, उसके माहात्म्य से अपरचित हैं, तो वह हमारे लिये व्यर्थ है। कोई बड़े भारी महात्मा हैं, हमारे सम्मुख से निकल जाते हैं हम उनके माहात्म्य को नहीं जानते, तो जितना हमें लाभ होना चाहिये

---

* शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! इस रामचरित को अपने श्रवण पुटों से पान करने वाला पुरुष ऋजुता मृदुता आदि गुणों से युक्त होकर कर्मबन्धनों से विमुक्त बन जाता है।'

उतना लाभ नहीं होता है मंत्र ओषधि आदि में माहात्म्य सुनकर हा रुचि बढ़ती है। इसलिये सभी का माहात्म्य श्रवण करना चाहिये। इससे किन-किनको क्या लाभ हुआ।

सूतजी कहते है—"मुनियो! मैं तुमसे रामचरित का माहात्य अत्यत ही संक्षेप के साथ कहता हूँ। 'राम' इन दो शब्दो मे इतना बल है, कि पापी भी इनके सहारे पावन बन जाता है। मुख से उच्चारण न भी करे, केवल कानो द्वारा सुन ही ले तो भी उसकी मुक्ति हो जाती है। ओषधि खा ली जाय तब तो अपना प्रभाव दिखाती ही है। खावें न केवल सुई द्वारा रक्त मे पहुँचा दी जाय तो भी वह तत्काल चमत्कार दिखाती है। राम चरित वैसे तो स्वयं ही बड़ा मधुर चित्ताकर्षक तथा कानों को सुख देने वाला है। यदि समझकर पढ़ा सुना जाय तब तो पूछना ही क्या। बिना समझे बूझे प्रसंग से भी जो राम चरित सुनता है। उसकी भी मुक्ति होती है। क्योंकि बारम्बार राम-राम ये शब्द आते हैं। राम के रूप, स्वभाव, शील और कार्यो का वर्णन होता है। जैसे निर्मली बूटी गँदले पानी मे पड़ते ही उसकी मिट्टी को नीचे बैठा कर जल को विशुद्ध बना देती है, वैसे ही राम कथा कानो के द्वारा हृदय मे प्रवेश करते ही उसको कठिनता और चंचलता मिटा कर अन्तःकरण को सरल और कोमल बना देती है। इस विषय मे प्राचीन काल मे नारदजी ने सनत्कुमार मुनि,को एक प्राचीन गाथा सुनाई थी। जिसमें राजा सौदामा गौतम शिवजी के शाप से राक्षस हो जाने पर रामायण सुनने के कारण उत्तम गति को प्राप्त हुए।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! सनकादिक कुमारों की नारदजी से भेंट कहाँ हुई और यह कथा प्रसंग कैसे चला? राजा सौदामा कौन थे? शिवजी ने उन्हें शाप क्यों दिया? और

रामायण श्रवण के प्रभाव से वे कैसे तर गये ? यदि आप उचित समझें तो कृपा करके हमारे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर सूतजी कहने लगे—"मुनियो। आपने बड़े ही सुंदर प्रश्नों से श्रोता वक्ता दोनों का ही कल्याण होगा, रामचरित के माहात्म्य का वर्णन होगा अच्छा तो सुनिये, मैं आपके प्रश्नों का यथावत् उत्तर देता हूँ। एक समय सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों मुनि घूमते घामते अपने पिता, लोक पिता मह ब्रह्माजी के दर्शनों के लिये उनकी सुमेरु शिखर वाली सुन्दर सभा मे आये ब्रह्माजी का निवास स्थान तो सत्यलोक में है, किन्तु चौदह भुवनों का उन्हें काम देखना पड़ता है। अतः स्वर्ग के ऊपर सुमेरु शिखर पर उनकी एक सभा है। उसमे आकर तीनों लोकों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करते हैं आज्ञा देते हैं। वह सभा बीच मे है नीचे के सातों विवरों सहित भूलोक भुवर्लोक और स्वर्ग-लोग के जीव उसमे जा सकते हैं और ऊपर के महर्लोक जन-लोक, तपलोक और सत्यलोक के भी निवासी वहाँ आ सकते हैं। वहीं से भगवती त्रिपथ गगाजी निकली हैं। उनकी तीन धारा हैं स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल को गई हैं। स्वर्गलोक में उसी गङ्गा को मन्दाकिनी कहते हैं, पृथ्वी पर अलकनन्दा और पाताल मे वही भोगवती के नाम से प्रसिद्ध है।"

ये चारों कुमार सदा ५ वर्ष के बालक ही बने रहते हैं, न कभी घटते हैं, न बढ़ते हैं। वस्त्र पहिनते नहीं। काम, क्रोध लोभ, मोह, मद मत्सर आदि के चक्कर मे फँसते नहीं। स्वच्छन्द होकर इधर से उधर घूमते रहते हैं। कभी कहीं भगवान की कथा हुई वहाँ गये। समाप्त हो गई चले। यही इनके घूमने का उद्देश्य है। मुख से सदा 'हरिः शरणम् हरिः शरणम्' इन शब्दों को निरन्तर उच्चारण करते रहते हैं। उन लोगों ने जब सुमेरु के शिखर से

त्रैलोक्य पावनी भगवती सुरसरि को गिरते देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। कितने भी पुराने क्यों न हों, वह बाल्यसुलभ चञ्चलता कहाँ जाय। उनकी इच्छा स्नान की हुई। कोई अंग पर वस्त्र हो तो उसे उतार कर कूदें। नंग धड़ंगे तुरन्त कूद पड़े। नहाते रहे किलोले करते रहे। इतने मे ही उन्हें वीणा बजावत हरिगुण गावत सामने से आवत देवर्षि श्रीनारदजी दिखाई दिये। नारदजी को देखकर कुमार खिल उठे—"वे बोले—"नारद! नारद! तुम भले आये भले आये। भाई, आओ? कहो, कहाँ जा रहे हो।"

नारदजी ने कुमारो को प्रणाम किया और कहा—"सौभाग्य की बात है, जो मुझे आज आपके दर्शन हुए। कहिये मेरे लिये क्या आज्ञा है।"

कुमार बोले—"अजी आज्ञा क्या है, हमें तो भगवत् चर्चा श्रवण करने का व्यसन लग गया है। जैसे किसी को अफीम खाने का भॉग पीने का, तमालपत्र धूम्रपान करने का व्यसन लग जाता है, तो वह जहॉ पहुँचता है, पहिले उसी की खोज करता है, उसी के सम्बन्ध में पूछ ताँछ करता है। इसी प्रकार हमे तो हरि चर्चा के बिना कुछ सुहाता ही नहीं। कोई मधुर-मधुर सुन्दर हरि सम्बन्धी चर्चा सुनाइये।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् नारदजी बोले—"क्यों न हो, महाराज! आप स्वयं साक्षात् ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं मेरे सगे भाई हैं। आपका तो हरिचर्चा आहार ही है। हरिचर्चा के लिये ही तो आपने इस शरीर को धारण कर रखा है। आप तो स्वयं साक्षात् ईश्वर ही हैं। लोक कल्याणार्थ ही आपने अवतार लिया है। आप तो कल्याण स्वरूप ही हैं, फिर भी जगत् के कल्याणार्थ आप विचरते हैं और समस्त अघहारिणी हरि कथा को श्रवण करते

रहते हैं जो उत्तम कुल के कुलीन सदाचारी पुरुष श्रद्धा से राम कथा सुनते हैं, उनका तो उद्धार होता ही है, किन्तु जो दुष्ट स्वभाव के व्यभिचारी पुरुष भी हैं वे भी रामकथा श्रवण से विशुद्ध बन जाते हैं। देखिये, रामायण की कथा के श्रवण से ही शिवजी के शाप से राक्षस बने राजा सौदामा की मुक्ति हो गई।"

इस पर कुमारों ने पूछा—"राजा सौदामा कौन थे कैसे उन्हें शिवजी का शाप हुआ और कैसे उनकी मुक्ति हुई। कृपा करके इस प्रसग को आप हमे सुनावें।"

नारदजी बोले—"सुनिये, महाराज! प्राचीन काल में गङ्गा-तट पर महामुनि गौतम निवास करते थे। उनकी सेवा मे सोमदत्त नाम के एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने मुनि से समस्त शास्त्रों का श्रवण पठन किया था। निरन्तर शास्त्रो को सुनते-सुनते वह बडा भारी विद्वान् हो गया। उसे अपनी विद्या का अभिमान भी हो गया।"

एक दिन वह शिवजी की पूजा कर रहा था, उसी समय उसके गुरु भगवान् गौतम वहाँ पधारे। उसने न तो उठकर गुरु को अभ्युत्थान ही दिया न प्रणाम ही किया। ठूँठ की भाँति देखते हुए भी वह दृष्टिहीन सा बन गया। उसके व्यवहार से गुरु तो कुछ भी न बोले, शिवजी को बडा क्रोध आया। उन्होंने शाप दे दिया—"जा तू राक्षस हो जा।"

अब क्या था सोमदत्त का समस्त अभिमान कपूर की भाँति उड गया। दौडकर उसने गुरु के पैर पकड लिये, लगा रोने गिड-गिडाने। गुरुजी ने कहा—"देख, भैया! सुनले मेरी सीधी सची बात। शिवजी के शाप को व्यर्थ करने की मेरी सामर्थ्य नहीं। हाँ, इतना मैं किये देता हूँ, कि यह शाप १२ वर्ष तक ही रहेगा और रामचरित श्रवण से तेरी मुक्ति हो जायगी।" यह सुनकर

सोमदत्त को कुछ सन्तोष हुआ। वह तुरन्त शिवजी के शाप से राक्षस भाव को प्राप्त हो गया। अब क्या था अब तो वह घोर पाप करने लगा बड़े-बड़े उपद्रव मचाने लगा। मनुष्यों को पकड़ कर खाने लगा। घोर अरण्य में जिसे भी देखता उसे ही खा जाता। इस प्रकार करते हुए वह वनों में विचरण करने लगा।"

एक दिन कोई ब्राह्मण उसे दिखाई दिया। वह प्रयाग स्नान करके गङ्गाजल लिये हुए था। मुख से राम इस महामंत्र का निरतर उच्चारण कर रहा था। राक्षस ने जब दूर से ही उस ब्राह्मण को देखा, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—"अच्छा, चलो, मेरा आहार तो आ गया।" ऐसा विचार करके वह ज्यों ही ब्राह्मण की ओर दौड़ा, त्यों ही उसकी गति रुक गई वह आगे बढ़ ही न सका। ब्राह्मण के ऐसे प्रभाव को देख कर राक्षस को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने विनय के साथ कहा—"विप्रवर! आप धन्य हैं। आपकी तपस्या को धन्य है। जिसके प्रभाव से मेरा आप पर कुछ वश ही न चला। मैं आपका धर्षण करना चाहता था, किन्तु न कर सका। मैंने अब तक लाखों करोड़ों ब्राह्मणों को खा डाला है। आप यह किस मंत्र का जप कर रहे हैं, जिनके प्रभाव से राक्षस भी आपकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देख सकता। आप तो बड़े प्रभावशाली हैं।"

वे ब्राह्मण जिनका नाम गर्ग था राक्षस की बात सुनकर बोले—"राक्षसराज! आप जो यह प्रभाव देख रहे हैं, यह सब राम नाम का प्रभाव है। निरन्तर राम नाम का जप करता रहता हूँ। राम चरित का श्रद्धा सहित श्रवण पठन करता हूँ।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राक्षस ने कहा—"विप्रवर! आपने अच्छा स्मरण दिलाया। मैं भी पहले ब्राह्मण था, गुरु का अपमान करने के कारण शिवजी ने मुझे शाप देकर

राक्षस बना दिया है। मेरे गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दी थी, कि रामचरित सुनने से तुम्हारी मुक्ति होगी। सो, ब्रह्मन्! आप वेद वेदाङ्गों के पारङ्गत हैं, विद्वान् हैं, सुशील हैं, विनम्र हैं वैष्णव हैं, परोपकारी हैं आप मेरे ऊपर कृपा करें मुझे इस पवित्र कार्तिक मास के शुक्लपक्ष में रामचरित सुना दें।"

वैष्णवों से कोई रामचरित कहने को कहे, तो वे सब कुछ भूल जाते हैं। बड़े से बड़े कार्यों को परित्याग करके रामचरित में निरत हो जाते हैं। उन गर्ग ब्राह्मण ने विधिवत् उस ब्रह्मराक्षस को रामचरित सुनाया। भगवान् रामचन्द्र की मर्यादामयी आनन्दमयी श्रुत मधुर कथा के सुनते ही वह प्रेतत्त्व से निर्मुक्त हो गया। दिव्य शरीर धारण करके और महामुनि गर्ग के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करके वह वैकुण्ठलोक को चला गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवर्षि नारदजी ने सनकादि महर्षियों से इस रामचरित के महात्म्य के सम्बन्ध में कहा था। वास्तव में मनुष्यों की पाप में रुचि तभी तक होती है, जब तक उसे रामकथा में रस नहीं आता। रामकथा में रस आने पर ये सांसारिक रस अत्यन्त ही तुच्छ दिखाई देते हैं। देखिये, महापापी महाव्यभिचारी शूद्र भी अपनी प्रेमिका के साथ रामचरित श्रवण से परम पद का अधिकारी बन गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पापी शूद्र रामकथा श्रवण से कैसे परम पद का अधिकारी हो गया कृपया इस कथा को भी हमें सुनावें। इन आख्यानों के श्रवण से हमारी रामचरित में अधिकाधिक प्रीति बढ़ती जाती है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"सुनिये, महाराज! यह कथा भी नारदजी ने सनकादि मुनियों से कही थी। पूर्वकाल में नाम के एक राजा थे। वे बड़े धार्मिक ५१.

ब्रह्मण्य थे। उसकी पत्नी का नाम सत्यवती था वह सभी गुणों से सम्पन्न गुणवती तथा भाग्यशालिनी थी। वे दोनों मिलकर बड़े प्रेम से रामचरित की कथा सुना करते थे। एक दिन घूमते फिरते महामुनि विभाण्डक अपने शिष्यों सहित राजा के यहाँ आये। राजा ने पाद्य अर्घ्य आदि देकर मुनि की विधिवत् पूजा की, उन्हें सुन्दर सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाया तथा मुनि के तप की आश्रम की तथा अग्नियों की कुशल पूछी। कुशल प्रश्न के अनन्तर महामुनि विभाण्डक बोले—"राजन्! आप सर्वदा रामचरित की ही कथा क्यों सुनते रहते हैं? संसार में तो और भी उत्तम-उत्तम पुराण हैं, शास्त्र हैं। आप उन सबको छोड़कर निरन्तर रामायण में ही क्यों लगे रहते हो।"

यह सुनकर राजा बोले—"भगवन्! संसार में जिसका जिससे काम निकलता है, वही उसको प्रिय है। संसार में असंख्यों सुन्दर से सुन्दर पुरुष हैं, किन्तु सती को तो अपने पति से ही प्रयोजन है। बहुत सी रँगी हुई सुन्दर से सुन्दर नौकायें हैं, किन्तु हमें तो उसी से पार जाना है जिसमें बैठे हैं। संसार में एक से एक बढ़कर महात्मा हैं। किन्तु हमारा उद्देश्य तो उन्हीं से सफल होगा जिनके द्वारा हमारे हृदय की ग्रन्थि खुल जायगी, जिसके द्वारा हमारे संशयों का नाश हो जायगा। मेरा कल्याण तो पूर्व काल में एक बार रामायण श्रवण से ही हुआ है।"

महामुनि विभाण्डक ने पूछा—"राजन्! पूर्वकाल में आप का उद्धार किन के द्वारा कैसे हुआ इस प्रसङ्ग को आप कृपा करके मुझे सुनाइये।"

मुनि की बात सुनकर राजा अपनी पूर्व की कथा सुनाने लगे। राजा बोले—"ब्रह्मन्! मैं पूर्व काल में मालिनि नामक शूद्र था। नित्य ही प्राणियों की हिंसा करता था। अपेय पदार्थों को पाता

था। अखाद्य पदार्थों को खाता था। जाति वालों से कुल वालों से और देशवासियों से द्रोह करता था। मास ही मेरा प्रधान आहार था। मदिरा मेरा प्रधान पेय था, धन छीनना ही मेरा ध्येय था। प्राणियों को हिंसा करना ही मेरा प्रधान व्यापार था। मैं कुछ लूटपाट कर चोरी करके लाता, वह सब वेश्याओं को लाकर दे देता। इस प्रकार कुछ दिनों तक तो मेरे कुल वाले सहन करते रहे। अन्त में उन सबने मिल कर मुझे नगर से निकाल दिया। परिजनों से परित्यक्त मैं इधर-उधर जगलो और पर्वतो मे भटकता रहा।

जो कोई जीव मिल जाता, उसे ही मारकर खा लेता। ऐसे ही घूमते-घामते मे वशिष्ठ मुनि के आश्रम के निकट पहुँचा। वह स्थान सुन्दर था। वहाँ की शोभा अनुपम थी, मैं आश्रम के समीप ही एक पर्ण कुटी बनाकर रहने लगा। आश्रम मे कुछ दूर पत्थरों को इकट्ठा करके मैंने चबूतरा बनाया और उस पर घास फूँस तृण छाकर रहने योग्य स्थान बना लिया। वहाँ मैं व्याध का जीवन व्यतीत करता जगलों से जीवों को मार लाता और उनके मास को खाकर निर्वाह करता इस प्रकार वन मे रहते हुए मुझे २० वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन मैं बैठा था, कि मुझे एक रुदन का करुण,शब्द सुनाई दिया। मैं उस शब्द की ध्वनि को ही लक्ष्य करके आगे बढ़ा। कुछ दूर चलकर एक वृक्ष के नीचे रोती हुई एक स्त्री मैंने देखी। उसके समीप जाकर मैंने उसे सान्त्वना देते हुए पूछा—"देवि! तुम कोन हो? इस वन मे क्यो आई हो और क्यो रो रही हो?"

उसने रोते-रोते कहा—"आप मुझ अभागिनी के प्रति इतनी दया क्यों दिखा रहे हैं, मैं बडी पापिनी हूँ। मेरा जन्म निषाद जाति

में हुआ है। काली मेरा नाम है मैं बड़ी व्यभिचारिणी और अधर्मचारिणी हूँ। परपुरुषों के कहने से मैंने अपने पति की गुप्त रीति से हत्या कर डाली थी। जाति वालों ने मुझे घर से निकाल दिया। अब मैं इधर-उधर आश्रयहीन होकर भटक रही हूँ।"

मैंने सोचा—"राम मिलाई जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी" "अच्छी बात है चलो हम तुम दोनों साथ रहे।" मेरा प्रस्ताव उसने भी स्वीकार कर लिया। मैं भी अपने हाथ से मांस पकाते-पकाते ऊब गया था, वह भी आश्रय चाहती थी। हम दोनों पति पत्नी की भाँति रहने लगे।

एक बार हमने देखा, वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर बड़ी धूम-धाम हो रही है। बहुत से ऋषि मुनि आ रहे हैं। हम दोनों इस लोभ से मुनि के आश्रम के समीप जाकर बैठ गये, कि मुनि प्रसाद पाकर जो पत्तल फेंक देंगे उसमें कुछ न कुछ उच्छिष्ट हमें मिल जाया करेगा। पहिले तो मुनि के आश्रम की ओर जाने का मेरा साहस ही नहीं होता था। जब मैं स्त्री सहित जाने लगा तो मुझे यथेष्ठ जूठन मिलने लगी। इसी लोभ से हम दोनों नित्य वहाँ जाते एक तो भगवान् का प्रसाद फिर महात्माओं के अधरामृत से लगा हुआ उच्छिष्ट उस महाप्रसाद के पान से हमारे मन का मल धुलने लगा। उसी समय सुना कल से यहाँ रामायण का नवाह पाठ होगा। हम दोनों भी एकान्त में दूर बैठकर कथा श्रवण करते। जिस दिन पाठ समाप्त हुआ उसी दिन हम दोनों की मृत्यु हो गई। उस पुण्य प्रभाव से ही मैं राजा हुआ और मुझे पूर्व जन्म की सब बातें ज्यों की त्यों स्मरण बनी रहीं। यह मेरी पत्नी वह निषाद कन्या काली है इस जन्म में भी यह मेरी पत्नी हुई। इसीलिये हम निरन्तर रामचरित सुनते रहते हैं, कि फिर हमें संसार में न आना पड़े।" यह सुनकर विभाण्डक मुनि

परम प्रसन्न हुए और राजा द्वारा सत्कृत होकर शिष्यों के सहित अन्य स्थान को चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। मैं कहाँ तक सुनाऊँ ऐसे एक दो नहीं असंख्यों इतिहास हैं जो बड़े से बड़े पापी केवल राम कथा सुन कर ही तर गये हैं। एक अत्यंत क्रूर चोर था। वह विष्णु मंदिर में देव धन को अपहरण करने गया। वहाँ एक ब्राह्मण को सोता देखकर उसे मारने को उद्यत हुआ। ब्राह्मण ने उससे नम्रता पूर्वक कहा—"तू मुझे क्यों मारता है मैंने तो तेरा कुछ बिगाड़ा नहीं।" ब्राह्मण की वाणी सुनकर उसे अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। ब्राह्मण की शरण गया। ब्राह्मण ने उस पर दया की। रामचरित सुनाकर उसे संसार सागर से सदा के लिये मुक्त कर दिया। मुनियो! मैं रामचरित की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, यह चरित धन्य है, यश को देने वाला है। जिसके पुत्र न हो वह यदि श्रद्धा से रामचरित्र श्रवण करे तो उसके पुत्र हो जाय। जिसका विवाह न होता हो, वह यदि नियम पूर्वक राम चरित्र सुने तो उसे सुन्दर बहू मिल जाय। जिस कन्या को पति न मिलता हो, यदि वह रामचरित को सुने तो उसे मनोनुकूल पति की प्राप्ति हो! दरिद्र धन की इच्छा से रामचरित सुने तो धनी हो जाय। विद्यार्थी भक्ति पूर्वक रामचरित सुने तो उसे विद्या की प्राप्ति हो। शरणार्थी यदि सावधान होकर रामचरित सुने तो उसे सब के शरणदाता श्रीहरि मिल जायँ उनकी शरण में जाकर सुखी हो जाय। सारांश यह कि रामचरित, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष तक को देने वाला है। जो मोक्ष की भी इच्छा नहीं रखते, ऐसे निष्काम भक्त यदि निरन्तर राम कथा को ही सुनते रहें, तो उन्हें प्रभुपादपद्मों में अहैतुकी पराभक्ति प्राप्त हो। वह प्रभु प्रेम में पागल बने, परमानंद सुख का

अनुभव करते रहे। इस प्रकार यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में श्रीराम चरित के माहात्म्य का वर्णन किया। अब मुनियो! आप लोग और क्या सुनना चाहते है।"

यह सुनकर शौनक जी बोले– "सूतजी! आपने परम पावन रामचरित सुनाकर हमें कृतार्थ कर दिया। महाभाग! आप सूर्यवंश की वंशावली हमें सुना रहे थे। सूर्यवंश के प्रधान-प्रधान राजाओं का वर्णन करते-करते आप दशरथ नन्दन भगवान् रामचन्द्रजी तक आ गये थे। अब हम इससे आगे की वंशावली और सुनना चाहते हैं।

इस पर सूतजी बोले– "अच्छी बात है मुनियो! अब मैं अत्यन्त ही संक्षेप में इस सूर्यवंश का वर्णन करके फिर उस चन्द्रवंश का वर्णन करूँगा। जिसमें चन्द्रवंशावतंस भगवान् कृष्णचन्द्रजी अवतरित हुए हैं। महाराज दशरथ जी के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चार पुत्र हुए। चारों के दो-दो पुत्र हुए, श्रीरामचन्द्रजी के सबसे बड़े पुत्र कुश हुए। अब कुश के आगे के राजाओं की वंशावली सुनिये।

छप्पय

ग्राम्य कथा महँ व्यर्थ जीव जीवन सब खोवें।
अन्त समय यमदूत निरखि डरि पुनि-पुनि रोवें॥
राम कथा यदि सुनहिं दुःख काहे कूँ पावैं।
देखें नहिं यमसदन नित्य वैकुण्ठ सिधावें॥
चिन्ता दुख भय शोकयुत, नीरस यह संसार है।
है यदि जानें तत्त्व तो, रामचरित ही सार है॥

इक्ष्वाकुवंश के शेष राजा

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥*॥
(श्री भा० ६ स्क० १२ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

कुश के सुत नृप अतिथि निषध नृप तिनके नभ सुत ।
हिरणनाभ नृप दशम पीढ़िमहँ भये योगयुत ॥
जैमिनि मुनितैं योग सीखि कीरति बहु पाई ।
याज्ञवल्क्यकूँ जिनानि योग विधि सरल सिखाई ॥
तिनकी छटमीं पीढ़िमहँ, भूप वंशधर मरु भये ।
वंश बचावन के निमित, अजर अमर नृप ह्वै गये ॥

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका बीज नष्ट हो जाता हो। धर्म और अधर्म दोनों ही भगवान् के अंश से उत्पन्न हुए हैं, धर्म हृदय प्रदेश से प्रकट हुआ है और अधर्म पृष्ठ देश से। सत्य युग में जब धर्म चारों पैरों से अवस्थित रहता है, तब भी अधर्म सूक्ष्म रूप से वहाँ रहता है। इसी प्रकार कलियुग में जब

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इक्ष्वाकु वंशीय भूपतियों का वंश सुमित्र नाम के राजा तक ही चलेगा। कलियुग में उस राजा के अनन्तर यह वंश समाप्त हो जायगा।

पूर्ण रूप से अधर्म व्याप्त हो जाता है तब भी धर्म बीज रूप से बना ही रहता है। सृष्टि में बीज सब के बने रहते हैं।

भगवान् के अवतार युग के अंत मे हुआ करते है। जैसे सत्य युग मे लोगो में ज्ञान की भावना स्वाभाविक थी। बिना सिखाये पढाये ही सभी ज्ञानी होते थे। प्रकृति की गति स्वभावतः पतन की ओर है। उत्थान के पश्चात् पतन यह लगा रहता हे, किन्तु स्वभावतः प्रकृति शनैःशनैः पतन की ओर जाती हे। जिसे सृष्टि के आदि मे प्रथम जो सत्ययुग होगा उसमे धर्म पूर्ण रूप से रहेगा। फिर धर्म शनैःशनैः क्षीण होते-होते कलियुग मे क्षीण हो जायगा। कलियुग के पश्चात् फिर जो दूसरा सत्ययुग आवेगा उसमे धर्म पूर्ण रूप से रहेगा तो अवश्य, किन्तु प्रथम सत्ययुग की भाँति न रहेगा। उससे कुछ न कुछ न्यून ही हो जायगा ऐसे ही होते-होते कल्प के अत के सत्ययुग मे धर्म बहुत ही न्यून हो जयगा और कल्प के अत के कलियुग मे तो सृष्टि का प्रलय ही हो जायगा।

इस प्रकार शनैःशनैः धर्म का ह्रास होता रहता हे भगवान् अवतार लेकर उसका अभ्युत्थान करते हैं इसीलिये युगावतार प्रायः युग के अत मे अवतरित होते हैं। सत्ययुग में जो स्वाभाविक ज्ञान की प्रवृत्ति थी वह सत्ययुग के अत मे आकर क्षीण हो गई। उसका पुनरुत्थान करने के लिये भगवान् कपिल का अवतार हुआ। उन्होंने ज्ञान का प्रसार किया और यज्ञ की भी प्रशसा की। त्रेता में ज्ञान के साथ वर्णाश्रम धर्म समस्त यज्ञ यागों का भी प्रसार हो गया। उसमे जब ह्रास होने लगा तो त्रेता के अत मे भगवान श्रीरामचन्द्र जी का अवतार हुआ भगवान् के वशज द्वापर के अन्त तक पृथ्वी का पालन करते रहे कलियुग मे विशुद्ध क्षत्रिय वश अधर्म के कारण रह नहीं सकता

कलियुग में वर्णाश्रम धर्म नष्ट प्राय: हो जायगा। यदि सूर्यवंश और चन्द्रवंश का बीज ही नष्ट हो जाय तो फिर आगामी सत्य युग में इन वंशों का प्रसार कैसे हो। इसीलिये भगवान् का ऐसा विधान है, कि कलियुग के आते ही एक सूर्यवंश के राजा अपनी दिव्य देह से गंधमादन पर्वत पर गुप्त रूप से एक युग तक रहकर तपस्या करते रहते हैं। वे योग प्रभाव से अपने शरीर को टिकाये रहते हैं, कलियुग के अंत होते ही वे विवाह करके फिर से सूर्य वंश और चन्द्रवंश की स्थापना करते हैं। इन्हीं सब कारणों से ये सूर्यवंश और चन्द्रवंश कल्प के अन्त तक नष्ट नहीं होते। यह सब भगवान् की इच्छा से ही होता है।

सूतजी कहते हैं "मुनियो! अब तक मैंने इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का श्रीरामचन्द्रजी तक वर्णन किया। अब आगे के राजाओं का वर्णन सुनें। श्री रामचन्द्र जी के बड़े पुत्र हुए कुश वे कुशावती के राजा हुए। कुश के पुत्र अतिथि हुए। अतिथि के निषध और निषध के नभ हुए। नभ के पुत्र पुण्यश्लोक पृथ्वी-पति पुण्डरीक हुए और पुण्डरीक के पुत्र क्षेमधन्वा हुए। क्षेम धन्वा के देवानीक, उनके अनीह और अनीह के पुत्र परमयशस्वी पारियात्र हुए। पारियात्र के बलस्थल उनके वज्रनाभ हुए। ये वज्रनाभ परम तेजस्वी हुए। सूर्य के समान इनका तेज था। इसलिये इन्हें सूर्य के अंश से उत्पन्न मानते हैं। वज्रनाभ के पुत्र खगण और उनके विधृति हुए। विधृति के पुत्र परम यशस्वी हिरण्यनाभ हुए ये संसार में योगाचार्य करके प्रसिद्ध हैं। भगवान् जैमिनि मुनि से इन्होंने योग की शिक्षा पाई थी। ये इतने प्रभाव शाली हुए कि कोशल देश वासी याज्ञवल्क्य ऋषि ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। क्षत्रिय होकर भी ये ब्राह्मण के गुरु हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने हृदय की ग्रन्थि को छेदन करने वाला

महान् सिद्धि प्रद अध्यात्म योग इन्हीं से सीखा था।

इन हिरण्यनाभ के पुत्र पुष्य हुए और उनके ध्रुवसन्धि। ध्रुवसन्धि के सुदर्शन और सुदर्शन के परम तेजस्वी अग्निवर्ण भूपति हुए। अग्निवर्ण के शीघ्र और शीघ्र के ही पुत्र चिरजीवी मरु हुए।

महाराज मरु परम योगी हुए। इनके जब एक पुत्र हो गया, तो ये सब राज पाट छोड़कर गंध मादन पर्वत पर बदरीवन से आगे कलाप ग्राम में जाकर तपस्या करने लगे। ये समाधि के अभ्यास से युग जीवी महापुरुष हो गये। अब तक ये कलापग्राम में तपस्या कर रहे हैं और इस कलियुग के अन्त तक तपस्या करते रहेंगे। कलिकाल में सूर्यवंश नष्ट हो जायगा, फिर जब सत्ययुग आवेगा लोगों की धर्म में रुचि बढ़ेगी, धर्म अपने चारों पैरों में अवस्थित हो जायगा, तभी ये ही सूर्यवंश से बीज रूप महाराज विवाह करके सूर्यवंश की पुनः स्थापना करेंगे। आगामी द्वापर में जो व्यास होंगे उन्हीं का वर्णन करेंगे। अब जो मरु के पुत्रों का वंश चला वे लोग तो सब अल्प वीर्य साधारण राजा हुए। उनमें भगवान् विष्णु की कला का अंश उतना नहीं है। अतः ये कलियुगी साधारण नाम मात्र के राजा हुए। पहिले युगों के राजा लाखों वर्ष जीते थे, उनकी आयु युगों की होती थी। ये कलियुगी राजा थोड़े ही दिनों में पञ्चत्व को प्राप्त होंगे।

मरु के पुत्र प्रसुश्रुत हुए, उनके सन्धि और सन्धि के अमर्षण। महाराज अमर्षण के पुत्र महस्वान् हुए और महस्वान के विश्वसाह्व। विश्वसाह्व के प्रसेनजित। प्रसेनजित के तक्षक हुए। ये कोशलाधिप महाराज तक्षक महाभारत के युद्ध के समय विद्यमान थे। यद्यपि इनके पुत्र बृहद्बल भी परम शूरवीर थे, उनके एक पुत्र

भी थे वृहद्रण तक भी राजगद्दी पर महाराज तक्षक ही थे। ये दोनो बाप बेटे महाभारत समर में मारे गये। वृहद्वल का वध अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने किया। वृहद्वल महारथी थे। ६ बड़े-बड़े महारथियों ने मिल कर वीर अभिमन्यु को घेर लिया था, उनमें से वृहद्वल को तो अभिमन्यु ने मार दिया। शेष सब ने मिलकर अभिमन्यु को अधर्म पूर्वक मार डाला।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी महारथी कोशलराज कुमार वृहद्वल को अभिमन्यु ने कैसे मारा और वे फिर किस प्रकार मारे गय इस वृत्तान्त को कृपा करके हमे सुनाइये।

यह सुनकर सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! यह तो बहुत बडा वृत्तान्त है। इसे सुनाने लगूगा तो इक्ष्वाकु वंशीय राजाओ की कथा रह ही जायगी। अतः मैं अत्यन्त ही संक्षेप में इस कथा को कह कर आगे बढ़ता हूँ। मुनियो ! महाभारत के युद्ध मे षोडश वर्षीय अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने बडी ही वीरता दिखाई। उसकी अद्भुत वीरता को देखकर कौरव पक्षीय वीर कॉप उठे द्रोणाचार्य जो उस सेना के पितामह भीष्म के पश्चात् प्रधान सेनापति बनाये गये थे उन्होंने पांडवों को परास्त करने के निमित्त चक्रव्यूह की रचना की। धर्मराज युधिष्ठिर ने पूछा—"इस चक्रव्यूह मे घुस कर इसका नाश कौन कर सकता है ?"

वीर अभिमन्यु ने कहा—"मै कर सकता हूँ।"

उस छोटे बालक की ऐसी वीरता भरी बात सुनकर धर्मराज ने उसे हृदय से लगाया और सिर सूँघकर युद्ध के लिये विदा किया वीरवर अभिमन्यु ने माता के गर्भ मे ही सुनते-सुनते चक्र-व्यूह छेदन को सीख लिया था। वह वीर अपने सिंहनाद से दशों दिशाओं को कँपाता हुआ सभी कौरव वीरो के देखते-देखते अभेद्य चक्र-व्यूह मे घुस गया और वहाँ सैनिकों को मारने लगा

तथा महारथियों को युद्ध के लिये ललकारने लगा। उसके ऐसे पराक्रम को देखकर बहुत से बड़े-बड़े वीर उससे लड़ने आये, किन्तु सबके सब पराजित होकर रण से भाग गये। इसके ऐसे प्रचड वेग को देखकर एक साथ ६ महारथियों ने उस बालक को घेर लिया। दश हजार योद्धाओं से एक साथ लडने वाले को महारथी सज्ञा है। ऐसे ६ महारथी जिस बच्चे को घेर लें, फिर भी जो विचलित न हो उसकी वीरता के सम्बन्ध मे क्या कहना। वे ६ महारथी साधारण नहीं थे। सभी विश्वविख्यात हैं। उनमें सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों के मर्मज्ञ आचार्य द्रोण, उनके विश्वविदित पुत्र अश्वत्थामा, कुरुकुल के पुरोहित महा धनुर्धर कृपाचार्य, वीराग्रगण्य हार्दिक, यादवों के सुप्रसिद्ध महारथी कृतवर्मा और कोशल देश के राजकुमार 'बृहद्‌बल' ये ही सब विश्वविख्यात वीर थे।

बालक अभिमन्यु इन ६ओं के प्रहारों को सहता रहा और सब के १०।१०।२०।२० बाण मार कर सभी को घायल किया तब तो सब एक साथ उस पर टूट पड़े। वह इन सब महारथियों के साथ अकेला ही युद्ध कर रहा था कि इतने में ही कोशल देश के महाराज तक्षक आ गये। उन्होंने धर्म विरुद्ध एक कर्णि नामक चोखा बाण अभिमन्यु के हृदय में मारा। यद्यपि अभिमन्यु के साथ वे नहीं लड़ रहे थे उनका पुत्र बृहद्‌बल लड़ रहा था। अभिमन्यु को इस पर बडा क्रोध आया। उसने एक बाण मार कर कोशल राज की ध्वजा को काट दिया, दूसरे से उनके सारथी और घोड़ों को मार दिया, रथ को भी चकना चूर कर इस प्रकार कोशल राज को रथ विहीन करके वीरवर अभिमन्यु ने गर्जना की, रथ विहीन कोशलराज ढाल तलवार लेकर अभिमन्यु की ओर दौड़े उसी समय बृहद्‌बल भी पिता की सहा-

यतार्थ दौडे। अभिमन्यु ने एक चोखा वाण कोशल राजकुमार बृहद्वल की छाती मे मारा उस वाण के लगते ही राजकुमार कटे वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पडा और तुरन्त ही मर गया। पीछे अन्य महारथियो ने अधर्म पूर्वक अभिमन्यु को अस्त्र शस्त्र और रथ से विहीन करके अन्याय से मार डाला। निजय कोशल राजा महाराज तक्षक भी वहीं समर में वीर गति को प्राप्त हुए। उस युद्ध मे पाडवो की विजय हुई, धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट हुए। उन्होने जो राजा युद्ध में मर गये थे उनके छोटे-छोटे बच्चो को राजा बना दिया। जो राजवश नष्ट हो गये थे, उनके कुल में जो कोई भी बचा उसे ही राजा बना दिया। इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर ने पुन राज्य वशो की स्थापना की। कोशल राज तक्षक के पुत्र बृहद्वल के एक पुत्र थे, बृहद् रण मे मारे गये और वे ही महाभारत के अनन्तर कोशल देश के राजा हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिन दिनो आप लोग नमिषारण्य मे निवास करते थे, उन दिनो महाराज बृहद्रण ही कोशल देश के सिहासन पर विराजमान थे। आपके चले आने के पश्चात् इतने राजा और हुए। बृहद्रण के पुत्र उरुक्रिय, उरुक्रिय के सुत वत्सबृद्ध, उनके प्रतिव्योम, प्रतिव्योम के भानु, भानु के दिवाक, दिवाक के सहदेव, सहदेव के बृहदश्व, बृहदश्व के भानुमान्, के प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्व के पुत्र परम तजस्वी महाराज सुप्रतीक हुए।

सुप्रतीक के मरुदेव, मरुदेव के सुनक्षत्र, सुनक्षत्र के पुष्कर, पुष्कर के अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष के सुतपा, सुतपा के अमित्रजित्, अमित्रजित के बृहद्राज, बृहद्राज के बर्हि, बर्हि के कृतञ्जय, कृतञ्जय के रणञ्जय, रणञ्जय के सञ्जय पुत्र हुए। सञ्जय के शाक्य, शाक्य के शुद्धोद, उनके लाङ्गल, लाङ्गल के प्रसेनजित,

प्रसेनजित् के क्षुद्रक, क्षुद्रक के रणक, और रणक के सुरथ तथा उनके सुमित्र पुत्र हुए। वस ये सुमित्र इस वंश के अंतिम राजा हुए। इसके अनंतर कोशल की गद्दी से इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का अधिकार उठ गया। यह वंश पृथ्वी से नष्ट प्रायः हो गया क्षत्रिय वंशवृद्धि होने से लोगों की वर्णाश्रम धर्म में राज्य परम्परा में आस्था न रह जायगी। स्त्रियों के चरित्र हीन होने से शुद्ध रजवीर्य की परम्परा नष्ट हो जायगी।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी पर तो अब सूर्यवंश चन्द्रवंश के बहुत से क्षत्रिय हैं। आप कहते हैं सुमित्र के पश्चात् सूर्य वंशीय राजाओं का वंश समाप्त हो जायगा।"

सूत जी बोले—"हाँ महाराज! कहने को तो अब भी लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहते ही हैं। और वंश परम्परा भी वही है। किन्तु अब वह कुलागत विशुद्ध वंश परम्परा नहीं रही। इसमें किसी का दोष नहीं। यह तो कलि का प्रभाव है। जैसे जाड़े में सरदी पड़ती है, वैसे ही कलियुग में अधर्म का प्रसार होता है। कलियुगी लोग अधर्म को ही उन्नति का द्योतक समझेंगे। अज्ञान के वश होकर पशुओं का सा आचरण करेंगे। अभी तो कलियुग में बहुत दिन शेष हैं, अभी से सर्वत्र अधर्म फैलने लगा। अब वर्णाश्रम धर्म पृथ्वी पर कहाँ रहा। ब्रह्मचारी कहीं दिखाई भी देते हैं, अब तो नाम मात्र के, वे केवल नाम के ब्रह्मचारी हैं जिन विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, वेदों का अध्ययन करना चाहिये, वे विदेशी भाषायें पढ़ते हैं, जिनमें भौतिक सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता है। कलियुगी आधुनिक विद्यार्थी भिक्षा पर निर्वाह नहीं करते। प्रतिमास घर से धन मँगाते हैं। शुल्क देकर पढ़ते हैं। अध्यापकों

के प्रति सम्मान नहीं करते उन्हें वेतन भोगी भृत्य समझ कर वैसा ही उनके साथ वर्ताव करते हैं। छात्रावासो में निवास करते है, वे विलासिता के आलय बने हुए हैं, उनमें खाद्य अखाद्य सब खाया जाता है, पेय अपेय सब पीया जाता है, कर्तव्य अकर्तव्य सभी प्रकार के दुष्कर्म किये जाते हैं। निरीक्षक नाम मात्र के लिये रहते है, उनकी आज्ञाओं को छात्र मानते नही। विवाह के पूर्व ही वे दूपित होते हैं, व्यभिचारजन्य दोप उनमे आ जाते हैं। पढ़कर वे वर्णाश्रम धर्माचित वशपरम्परागत कार्यों से घृणा करने लगते है। वे दासता को चाहते हैं। उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। वाल्यावस्था में ही वृद्ध से लगने है, यही दशा गृहस्थियों की है। गृहस्थ धर्म यज्ञ करने के लिये किया जाता है दार ग्रहण अग्निहोत्र की रक्षा के निमित्त होता था। अब ढूँढने पर भी लाखों करोड़ो मे कोई गृहस्थ अग्नि होत्री नही मिलता, जिसके यहॉ तीनो अग्नियॉ सुरक्षित और पूजित हों। वेदो का पढ़ना तो पृथक् रहा, लोगो ने वेदो की पोथियों के दर्शन तक नहीं किया। गृहस्थ धर्म केवल पेट भरने और वाल वच्चे पैदा करने में ही सीमित रहा है। धर्म कर्म सभी भूल गये हैं। वानप्रस्थ धर्म तो लुप्त ही हो गया। वन ही नही रहे तो वानप्रस्थ कहॉ रहे। संन्यासी भी नाम मात्र के रह गये हैं। सन्यासधर्म पालन असम्भव हो गया है। यही दशा वर्णों की है। ब्राह्मणों का चिन्ह यज्ञोपवीत रह गया है। कैसे भी तीन धागे गले मे डाल लेना ब्राह्मणत्व का कर्म है। क्षत्रियो का काम कपट व्यापार करना ही शेप है। शूद्र तो कलियुग मे कोई रहा ही नहीं। चारो वर्णों में सांकर्य हो गया है।

कुल की रक्षा का भार स्त्रियो पर है, स्त्रियो के शुद्ध रहने से कुल विशुद्ध वना रहता है। स्त्रियों मे दूपित हो जाने से कुल

दूपित हो जाता है। संतति वर्णसंकर होने लगती है। वर्णसंकर सृष्टि के जीवो की स्वाभाविक प्रवृत्ति परमार्थ मे न होकर विपयो मे होती है। वे विपय को सर्वश्रेष्ठ सुखकर धर्माधर्म का कुछ भी विचार न करके व्यवहार करते हैं। इसलिये कलियुग मे वर्णधर्म आश्रमधर्म रहते ही नहीं। यो व्यक्तिगत रूप में भले ही रहे, सामाजिक रूप मे उनका प्रचार बंद हो जाता है। धर्मरक्षा का भार राजा पर ही है, राजा न रहने से प्रजा स्वतन्त्र हो जाती है वह मनमाना व्यवहार करने लगती है। पुरुप पाप मे निरत हो जाते हैं, वे सब काम मे कपट करते हैं। स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति को भार समझने लगती हैं, उनमें स्वतन्त्रता बढ जाती है, वे पुरुपो के साथ मिल कर रहना नहीं चाहती। विवाह बन्धन मे बँधना वे व्यर्थ समझती हैं। मनमाना आचरण करती है, सिर खोल कर स्वच्छन्दता के साथ जहाँ चाहे घूमती है, जहाँ चाहे रहती हैं जहाँ चाहे संतान उत्पन्न करती हैं, चाहें जहाँ सतानों को छोड़ आती हैं उनमे मातृत्व रहता नहीं, वे क्रूर कर्मा बन जाती है। विपयसुख को ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझती हैं, उसके लिये वे सब कुछ करने को तत्पर हो जाती है। प्राचीन सती धर्म की खिल्लियाँ उडाती हुई गर्व का अनुभव करती हैं। ऐसी स्त्रियों से विशुद्ध वंश परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे ऐसी आशा करना व्यर्थ है। पुरुप भी ऐसे ही पापी हो जाते हैं। वे अपने सामने अनुचित कार्य कराते हैं। लोभ वश उन्हें बेच देते हैं, पाप कर्मों मे फँसाते हैं। सन्तान पर प्रभाव तो रज वीर्य का ही होता है। शंकर वर्ण के लोग भौतिक उन्नति चाहे जितनी कर लें, परमार्थिक से वंचित ही रहते हैं। इसीलिये कलियुग में यज्ञ, अनुष्ठान अन्य धार्मिक कृत्य विधि पूर्वक हो नहीं सकते। क्योंकि इन कार्यों के लिये देश काल तथा पात्र इन तीनों की शुद्धता

आवश्यक है, इसीलिये महाराज! विशुद्ध क्षत्रिय वंश नष्ट हो जाता है। इसमें किसी का दोष नहीं, जो भी कुछ होता है, सब भगवद् इच्छा से होता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब सब भगवान् की ही इच्छा से होता है, युगधर्म के प्रभाव से ही होता है, तो शास्त्र में बार-बार इनका वर्णन करके इनकी बुराई क्यों की गई है ?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो सब सत्य है, होता तो सब युग के ही प्रभाव से है। शास्त्रकारों की बुराई करने का तात्पर्य इतना ही है, कि जिसे तुम उन्नति समझ रहे हो, वह उन्नति न होकर अवनति है, जिसका तुम धर्म समझ कर प्रचार कर रहे हो, वह धर्म न होकर अधर्म है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब कलियुग में देश, काल तथा पात्र कोई भी शुद्ध न रहेंगे, कोई भी साधन विधि विधान पूर्वक न हो सकेंगे, तब तो कलियुगी जीवों के उद्धार का कोई उपाय ही न रह जायगा।"

सूतजी बोले—"नहीं, महाराज! ऐसी बातें नहीं है। कलियुग में तो जीवों के उद्धार का एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। उसमें देश, काल, पात्र, विधि, विधान किसी की भी अपेक्षा नहीं। उसका आश्रय लेने से सुदुराचारी भी संसार सागर को बात की बात में तर सकते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वह कौन सा उपाय है सूतजी!"

सूतजी बोले—"महाराज! वह है भगवन्नाम संकीर्तन भगवान् के नामों का कीर्तन प्राणियों को समस्त पापों से दूर हटा कर परमपद तक पहुँचा देता है। कलियुग में केवल राम नाम का ही आधार है। राम नाम ऐसा सर्वश्रेष्ठ, सुलभ, सर्वोपयोगी साधन है कि उसकी किसी साधन से समता ही नहीं। जो राम

नाम का निरन्तर कीर्तन करता है, उस पर कलि का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। कलियुग उसके पास भी नहीं फटकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त सक्षेप में विवस्वान् के पुत्र मनु से लेकर सुमित्र तक के राजाओं के वश का अत्यन्त ही सक्षेप मे वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी बोले--"सूतजी! आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यन्त, पृपध्र, कवि ये १० पुत्र बताये थे, इनमे से आपने पृपध्र, कवि, करूप, नरिष्यन्त, दिष्ट और महाराज इक्ष्वाकु के वशो का तो वर्णन किया। महाराज इक्ष्वाकु के वश का वर्णन करते हुए आपने बताया था, कि उनके १०० पुत्र हुए थे उनमे विकुक्षि निमि और दडक ये तीन पुत्र तो बडे थे, ९७ छोटे। उनमे से २५ पुत्र तो आर्यावर्त से पूर्वीय देशों के राजा हुए। २५ पश्चिम देशों के राजा हुए। ४७ दक्षिण देशों के राजा हुए और ये तीन आर्यावर्त मध्य देश के राजा हुए। सबसे बडे महाराज विकुक्षि जो अपने कर्म से शशाद के नाम से विख्यात हुए, उनके वश का तो आपने वर्णन किया ही। अब उनके द्वितीय पुत्र निमि और तृतीय पुत्र दडक के वशों का वर्णन हमें और सुनाइय।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! महाराज निमि का वश बडा पावन है, पहिले उसे सुनाकर तब दडक के वश का सुनाऊँगा। अब आप निमि वश को श्रवण करें।

छप्पय

भरतें अष्टम पीढ़िमाँहि नृप भये वृहद्‌बल।
जिनकी द्वापरमाँहि भई कीरति अति उज्ज्वल॥
भारतमहँ अभिमन्यु संग लड़ि स्वर्ग सिधारे।
कुमर वृहद्रण बचे बने राजा अति बारे॥
पीढ़ी उन्तिसमहँ भये अन्तिम नृपति सुमित्र वर।
फिर कलिमहँ इक्ष्वाकु के, रहें विशुद्ध न वंशधर॥

निमि—वंश वर्णन

(७१०)

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् ।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ।
तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

अब इक्ष्वाकु कुमार द्वितिय निमि-वंश सुनाऊँ ।
गुरु वसिष्ठतैं कह्यो नृपति—हौं यज्ञ कराऊँ ॥
ऋत्विज बनि गुरुदेव ! यथा विधि मख करवावें ।
बोले गुरु—सुरराज बुलायो तहँ ह्वै आवें ॥
भये मौन सुनि निमि नृपति, इन्द्र यज्ञ हित गुरु गये ।
क्षण-भंगुर जीवन निरखि, चिन्तित नृप सोचत भये ॥

"जीवन से प्यारी जीविका होती है ।" यह लोकोक्ति सत्य है

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने एक यज्ञ प्रारंभ किया उसमें वसिष्ठजी को ऋत्विज् वरण किया वसिष्ठजी ने कहा—'भाई मुझे पहिले इन्द्र ने वरण कर लिया है, वहाँ से निवृत्त होकर आऊँगा तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करो ।" यह सुनकर गृहपति महाराज निमि चुप हो गये, वसिष्ठजी इन्द्र का यज्ञ कराने लगे

जीविका के लिये प्राणी जीवन को हथेली पर रखकर कार्य करते हैं। अगाध समुद्र में जाते हैं, जहाँ कि हमें कुछ आय हो, वहाँ पग-पग पर मृत्यु का भय है। जीविकोपार्जन के लिये सहस्रों हाथ नीचे खानों में जाकर काम करते हैं, जहाँ साक्षात् मृत्यु मुख फाड़े ही खड़ी रहती है। धनिकों को प्रसन्न करने के निमित्त मतवाले साड़ों से, सिंहों और हाथियों से मनुष्य लड़ता है। इसीलिये कि ये धनी प्रसन्न होकर कुछ दे देंगे। धन के लिये पुरोहितों को यजमानों की किस प्रकार हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है, उनके पीछे दौड़ना पड़ता है, जीविका को प्राण जीवन से श्रेष्ठ समझते हैं, जहाँ जीविका का प्रश्न आ जाता है, वहाँ प्राणी लड़ मरते हैं पात हो जाते हैं। ब्राह्मण-ब्राह्मण इसीलिये लड़ते हैं, यह मेरा यजमान है यह तेरा नहीं। एक क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय की जीविका के लिये राज्य वृद्धि के लिये हत्या करता है। वैश्यों के लिये तो प्रसिद्ध ही हैं चाहे चमड़ी चली जाय, दमड़ी न जाने पावे, इसी प्रकार घर में बाहर जाति में कुटुम्ब में जहाँ भी लड़ाई होती है पद प्रतिष्ठा और जीविका को ही लेकर, इनमें जीविका ही प्रधान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी के पुत्र स्वायम्भुव मनु हुए। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु हुए, उनके सौ पुत्रों में से विकुक्षि (शशाद) निमि और दण्डक ये प्रधान थे। महाराज विकुक्षि के वंश का वर्णन तो मैं आपके सामने कर चुका अब आप निमि के वंश का वर्णन सुनिये।

महाराज निमि बड़े ही धार्मिक तथा प्रजा वत्सल थे। उनकी धर्म कर्मों में अत्यधिक प्रवृत्ति थी। इसलिये सदा यज्ञ यागों में ही लगे रहते थे। मनु वंश के पुरोहित भगवान वसिष्ठ ही थे। इन सबके यज्ञ याग धर्मानुष्ठान सब ये कराते थे। एक बार महाराज निमि की इच्छा एक बड़ा भारी यज्ञ करने की हुई।

इसी निमित्त वे अपने कुल पुरोहित भगवान् वसिष्ठ के समीप गये। वसिष्ठजी ने राजा की कुशल पूछी और उनके आने का कारण जानना चाहा।"

हाथ जोडकर नम्रता पूर्वक राजा ने कहा—"भगवन्! मेरी इच्छा है, कि मैं एक बडा भारी यज्ञ करूँ। मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब आप कृपा करें। आप इस यज्ञ को विधि विधान पूर्वक मुझसे करा दें।"

महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—"राजन्! मेरा काम ही है, यज्ञ यागादि धर्मानुष्ठान कराना, किन्तु इस समय एक बडा धर्म संकट है?"

राजा ने पूछा—"वह क्या भगवन्!"

वसिष्ठ जी बोले-"देवराज इन्द्र सुमेरु पर एक बडा भारी यज्ञ करना चाहते हैं। उसके लिये उन्होंने आपके आने के पूर्व ही मुझे यज्ञ के लिये वरण कर लिया है और मैंने स्वीकार भी कर लिया है, कि मैं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वे तो देवेन्द्र हैं स्वर्गाधिप हैं। वे चाहे जिस ऋषि से यज्ञ करा सकते हैं। मेरे तो आश्रय आप ही एक मात्र हैं। पहिले मेरा यज्ञ करावें।"

वसिष्ठजी ने कहा—"राजन्! आप धर्मात्मा होकर भी ऐसी अधर्म पूर्ण बात क्यों करते हैं। यज्ञ करना स्वीकार करके फिर उसमें न जाना यह तो बडा भारी पाप है, विश्वासघात है। पहिले मैं उनका यज्ञ करना स्वीकार कर चुका हूँ। वहाँ मुझे जाना ही है। कोई बात नहीं उनका यज्ञ कराके जब मैं लौटूँगा, तब फिर आपका भी कराऊँगा। आप तब तक मेरे आने की प्रतीक्षा करें।"

अब राजा चुप हो गये। उन्होंने हाँ ना कुछ भी नहीं कहा।

सोचा—"देखा जायगा। यज्ञ तो मुझे करना ही है। वसिष्ठ जी ने सोचा—"मौन सम्मति लक्षणम्" राजा ने मेरी बात मान ली" ऐसा सोचकर वे इन्द्र का यज्ञ कराने चले गये और वहाँ जाकर इन्द्र का याग आरम्भ भी करा दिया।

इधर महाराज निमि ने सोचा—"धर्म के कार्यों मे विलम्ब करना उचित नहीं। आज तो हमारी धर्म करने मे रुचि है, कल बदल गई। चित्त तो चंचल है, क्षण-क्षण मे बदलता रहता है। कभी सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है, तो धर्म कर्म परमार्थ चिंतन की इच्छा होती है। राजस् चित्त होता है तो राजपाट, धन, ऐश्वर्य, प्रभुता और राजसी वस्तुओं के संग्रह की लालसा होती है। तमो गुण की वृद्धि होने से निद्रा, आलस्य तथा प्रमादादि के वशीभूत प्राणी हो जाता है। अतः धर्म भावना उठते ही उस धार्मिक कृत्य को तुरंत कर देना चाहिये। उस समय यही सोच ले कि मृत्यु मेरे केश पाशों को पकडे खड़ी है। शुभ कार्यों में सोच विचार बहुत न करके उन्हें तुरत कर डालना चाहिये और बुरे विचार आजायँ तो उन्हें भरसक टालते रहना चाहिये। इन्द्र तीनों लोकों के राजा हैं। उनके यहाँ धन ऐश्वर्य की तो कमी है नहीं। न जाने उनका यज्ञ कब समाप्त हो। फिर उनके और हमारे काल मे बहुत अंतर है। हमारे ३६० वर्ष उनके एक वर्ष के समान है। यदि गुरु जी को विवशता है तो किसी भी कर्मकाडी ऋषि मुनि को बुलाकर उन्हीं से यज्ञ कराया जा सकता है। मैं समझता हूँ, गुरुजी को भी इसमें कुछ आपत्ति न होगी। उधर इन्द्र का भी यज्ञ होता रहे, इधर मेरा भी हो जाय।" यही सब सोच विचार कर राजा ने अन्य ऋत्विजों से यज्ञ आरभ करा दिया। राजा का यज्ञ बड़ी धूम धाम से होने लगा।

इधर इन्द्र का यज्ञ समाप्त कराके और यथेष्ट दान दक्षिणा

लेकर, वसिष्ठजी इस आशा से कि अपने यजमान निमि का यज्ञ कराना है अति शीघ्र आये। वहाँ आकर जो उन्होंने देखा, उसे देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। यज्ञ का बड़ा भारी समारोह हो रहा है। चारों ओर स्वाहा, स्वाहा की ध्वनि गूँज रही है। आचार्य के आसन पर एक दूसरे ऋषि विराजमान् हैं। यज्ञ में दीक्षित राजा श्रद्धा सहित उनकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। जिस सम्मान के आसन के स्वयं अधिकारी थे, उस पर वसिष्ठजी दूसरे ऋषि को बैठा देखकर जल भुन गये। वे अपने क्रोध को संवरण न कर सके। दैव का ऐसा ही विधान था। मुनि को बड़ा क्रोध आया।

इधर राजा ने जब अपने गुरु को आते हुए देखा, तो वे श्रद्धा पूर्वक उठे, आगे बढ़कर स्त्री सहित उनकी चरण बन्दना की, स्वागत सत्कार किया और प्रसन्नता प्रकट की।

मुनि तो क्रोध में ही भर रहे थे, उन्होंने राजा के स्वागत सत्कार का अभिनन्दन नहीं किया। क्रुद्ध होकर बोले—"निमि! यह क्या हो रहा है ?"

नम्रता-पूर्वक राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यज्ञ हो रहा है, जिस के लिये मैंने आपसे प्रार्थना की थी।"

व्यङ्ग के स्वर में मुनि ने कहा—"फिर मैंने तुम्हें क्या आज्ञा दी थी ?"

सरलता के साथ राजा ने कहा—"आपने ब्रह्मन्! यही कहा था मुझे इन्द्र के यज्ञ में जाना है ?"

क्रुद्ध होकर मुनि ने कहा—"और मैंने कुछ नहीं कहा था ?"

राजा बोले—"हाँ, महाराज! आपने यह भी कहा था कि जब तक मैं इन्द्र का यज्ञ कराकर न लौटूँ तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करना।"

वसिष्ठजी ने दृढ़ता के स्वर में डाँटकर कहा—"तब तुमने मेरी प्रतीक्षा क्यों नहीं की ? क्या सोचकर मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया ?"

राजा ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—"भगवन ! मैंने सोचा—धर्म कार्य में क्या देरी करना। प्राणियों का जीवन जल बुद्बुद के समान है। पता नहीं कल क्या हो। इसलिये धर्म कार्य जितना भी शीघ्र हो सके, उतनी ही शीघ्रता से उसे सम्पन्न कर लेना चाहिये। मेरा भाव आपकी आज्ञा के उल्लंघन करने में नहीं था। मैं तो इस जीवन को कमल दल पर पड़े जल कण के सदृश अत्यन्त ही चञ्चल और अस्थिर मानता हूँ इसलिये मैंने अन्य आचार्यों से यज्ञीय दीक्षा ले ली।"

राजा के ऐसे गूढ़ ज्ञान युक्त वचनों को सुनकर क्रुद्ध मुनि के कोपानल में मानो घी की आहुति पड़ गई हो। वे अत्यन्त ही क्रुद्ध होकर बोले—"अरे ! क्षत्रियाधम ! तू गुरुओं का अपमान करके भी अपने को पंडित मानता है। तू समझता है, ये दान दक्षिणा लेने वाले ब्राह्मण हमारे आश्रित हैं। हम इन्हें चाहे बुलावें या न बुलावें ये हमारा क्या कर सकते हैं। अच्छी बात है, तू मेरे बल को देख। आचार्य के अपमान करने का फल चख, तू मूर्ख होकर भी अपने को विद्वान मानता है। इस शरीर को ही सब कुछ समझ कर राजा होने के अभिमान से तू गुरुओं की अवहेलना करता है। जा तेरा यह शरीर गिर जाय, तू अभी मृतक हो जाय।"

यह सुनकर राजा को भी क्रोध आ गया। यद्यपि राजा आत्म ज्ञानी थे, किन्तु भावी के प्रबल होने से वे अपने आपको रोक नहीं सके। वे भी सर्व समर्थ थे। उनको भी शाप अनुग्रह की सामर्थ्य थी। अतः उन्होंने भी हाथ में जल लेकर कहा—"मुनि-

वर ! दक्षिणा के लोभ से आप धर्म अधर्म सबको भूल गये आपने विवेकहीन होकर मुझे देह पतन का शाप दे दिया। अत मैं भी आपको शाप देता हूँ, आपका भी देह गिर जाय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! क्रोध और लोभ का यही दुष्परिणाम होता है। तनिक सी बात पर इतनी शापा-शापी हो गई। दोनो के ही वचन अमोघ थे। दोनों ही सामर्थ्यवान् थे। दानो के ही देह यज्ञ मडप में प्राणहीन होकर गिर गये। इस घटना को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। रग मे भग हो गया। फिर भी यज्ञ का कार्य बन्द नहीं हुआ। वह पूर्ववत् चलता रहा।"

छप्पय

है यह देह अनित्य यज्ञ अविलम्ब कराऊँ।
यदि गुरु आवें नहीं अन्य आचार्य बुलाऊ॥
करि दृढ निश्चय तुरत यज्ञ आरम्भ करायो।
मुनि वसिष्ठ पुनि आइ नृपति प्रति क्रोध दिखायो॥
देह पात को शाप मुनि, दयो भूप क्रोधित भये।
नृपहु शाप मुनिकूँ दयो, तनु दोउनि के गिरि गये॥

आदि विदेह महाराज जनक

[७११]

जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः ।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

तनु तजि मित्रावरुण वीर्यतैं प्रकटे मुनि पुनि ।
निमिहू नेत्रनि माँहि बसहिं नित पलक निमिष बनि ॥
निमिको मृतक शरीर मथ्यो वैदेह भये सुत ।
आदि जनक मिथिलेश मुक्त जीवन समाधियुत ।
तबतैं निमि वंशी नृपति, जनक विदेह कहाहिं सब ।
क्षणभगुर समुझैं सबहिं, राज पाट वाहन विभव ॥

देह के बन्धन से ही जीव बँधा हुआ है। अनित्य और क्षण-भगुर इस शरीर मे जीव ऐसा तन्मय हो जाता है, कि इस अनात्म्य पदार्थ को ही आत्मा माने बैठा है, असत्य को ही सत्य

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! मृतक निमि के देह के मन्थन करने पर जो पुत्र हुआ, वह जन्म लेन से जनक, विदेह से उत्पन्न होने से वैदेह और मन्थन करने से उत्पन्न होने के कारण मिथिल, नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसीने मिथिला नाम की पुरी बसाई।"

समझता है। इसी के मोह में फँसकर इसे ही पुष्ट करने के निमित्त भाँति भाँति के पाप करता है, यदि इस देह का अभ्यास छूट जाय, तो देह रहते हुए भी मनुष्य विदेह बन जाय। ज्ञान के ही द्वारा, इसमें बढ़ी हुई आसक्ति दूर हो जाती है। यदि विषयों से आसक्ति नहीं हटी, तो चाहें घोर वन में सब कुछ त्याग कर चले जाओ, मन उन्हीं विषयों का चिन्तन करता रहेगा और अवसर पाने पर उन्हें ही सग्रह करने लगेगा। इसके विपरीत जो प्राणी विषयों से विरक्त हो गया है, मन में उनके प्रति आदर भाव नहीं है, तो विषयों के बीच में रहते हुए भी वह विरक्त है। सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता। सब कर्म करते हुए भी अक्रिय है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! परस्पर में शाप देकर निमि और वसिष्ठ दोनों ने ही अपने अपने शरीर को त्याग दिया। वसिष्ठजी तो ब्रह्माजी के मानस पुत्र ही ठहरे। उन्हें स्थूल शरीर की उतनी अपेक्षा नहीं, वे अपने सूक्ष्म शरीर से ब्रह्माजी के समीप ब्रह्मलोक में पहुँचे। उन्होंने ब्रह्माजी को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन्! राजा निमि ने मुझे शाप देकर शरीरहीन कर दिया है, अब आप मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं पुनः स्थूल शरीर को प्राप्त करके सृष्टि के कार्य में योग दे सकूँ।"

वसिष्ठजी के ऐसे वचन सुनकर ब्रह्माजी ने ध्यान लगाकर सभी बातें जान लीं, सब वृत्तान्त को जानकर वे बोले—"वत्स, अभी तुम्हारा पृथ्वी पर बहुत कार्य है। एक मन्वन्तर तक तो तुम्हें सप्तर्षियों में ही रहना है। अतः तुम पुनः स्थूल देह धारण करो।"

यह सुनकर वसिष्ठजी ने कहा—"प्रभो! मैं किसी मानवी स्त्री के गर्भ से तो उत्पन्न होना नहीं चाहता। ऐसा उपाय बतावें

जिससे बिना गर्भ मे प्रवेश किये मुझे स्थूल शरीर प्राप्त हो सके।"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"देखो, मैं तुम्हे एक उपाय बताता हूँ, एक बार मित्रावरुण ऋषि दोनो ही स्वर्ग से आ रहे थे। मार्ग में उन्हे सोलह शृङ्गार किये हुए स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी दिखाई दी। उस अति सुन्दरी अप्सरा को देखकर दोनो ऋषियो का चित्त चचल हो गया और साथ ही रेतस् स्खलित हो गया। उन्होने उस अमोघ वीर्य को एक घडे मे रख दिया है, उसमे एक जीव तो प्रवेश कर गया है। तुम भी जाकर उसी कुभ मे प्रवेश कर जाओ। तुमसे पहिले जो जीव उसमे गया है वह संसार मे महान् ऋषि होगा। जो अगस्त के नाम से प्रसिद्ध होगा। कुंभ से उत्पन्न होने के कारण लोग उन्हें कुंभज भी कहगे। दूसरे अश से तुम प्रकट होगे, तुम्हारा नाम पूर्ववत् वसिष्ठ ही होगा। तुम्हें किसी स्त्री के उदर मे प्रवेश न करना पडेगा। तुम घट से उत्पन्न होने के कारण अयोनिज होगे।"

ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा सुनकर वसिष्ठजी ने उनके चरणो मे प्रणाम किया और वे आकर घट में स्थित मित्रावरुण के वीर्य में प्रवेश कर गये। कुछ काल म उसमें से वे पुन पूर्ववत् शरीर धारण करके इक्ष्वाकुवश के राजाओं का पौरोहित्य कर्म करने कराने लगे।

इधर निमि के यज्ञ मे आये हुए ऋषियों ने जब देखा, कि वसिष्ठजी के शाप से निमि का शरीर गिर गया है, वे मृतक हो गये हैं, तो उन्होंने उस शरीर को जलाया नहीं। अनेक प्रकार के सुगन्धित तेल लगाकर यज्ञ के अन्त तक उस देह की रक्षा करते रहे। यज्ञ समाप्त होने पर यज्ञ भाग लेने के लिये समस्त देवगण आये। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपना अपना भाग ग्रहण किया और ऋत्विजो से वर माँगने को कहा।

ऋत्विजों ने विनीत भाव से कहा—"देवताओ ! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं, तो हम आपसे यही वर माँगते हैं, कि हमारे यजमान महाराज निमि पुन. जीवित हो जायँ।"

ऋत्विजों की बात सुनकर समस्त देवताओं ने एक स्वर में कहा—"तथाऽस्तु—अच्छी बात है, ऐसा ही होगा राजा जीवित हो जायँगे।"

देवताओं की बात सुनकर आत्मज्ञानी महाराज निमि बोले—"मैं अब पुन: देह बन्धन में बँधना नहीं चाहता। भगवत् परायण मुनि-जन जन्म-मरण से सदा दूर ही रहना चाहते हैं। वे देहबन्धन से विमुक्त होकर सदा भगवत् चरणारविन्दों में ही अनुरक्त रहना चाहते हैं। मैंने जो शरीर छोड़ दिया है, अब फिर उसमें जीवित रहना नहीं चाहता। यह देह तो दुख, शोक तथा भय को देने वाला है। पग पग पर इसमें मृत्यु का भय लगा रहता है। इस अनित्य देह में मेरा ममत्व न हो ऐसा ही आप प्रयत्न करें।"

राजा की ऐसी बात सुनकर देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, निमि विना देह धारण किये ही ससार में अजर अमर रहें। वे सूक्ष्म देह से ही रहकर समस्त प्राणियों के पलकों में निवास करें। आँखों के उन्मेषण निमेषण में ये प्रकट हुआ करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! तभी से महाराज निमि सब प्राणियों के पलकों में रहने लगे। इसीलिये सब आदमी पलक मारते हैं। पलक के मारने को निमेष कहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"तो क्या सूतजी ! पहले प्राणी पलक नहीं मारते थे ?"

सूतजी यह सुनकर बोले—"नहीं महाराज, पलक तो सदा ही लोग मारते हैं। पहिले निमेष का अधिष्ठातृ देव कोई और रहा होगा। इस कल्प में तब तक देवताओं की भाँति सभी निर्निमेष रहते होंगे। जैसे मछली जल में निर्निमेष रहती है। जबसे निमि अव्यक्त रूप से सबके पलकों में रहने लगे, तबसे इस कल्प में के लोग भी पलक मारने लगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप सत्य कहते हैं सृष्टि में तो सब कार्य ऐसे ही यथापूर्व होते रहते हैं। अच्छा तो फिर क्या हुआ? महाराज निमि का वंश फिर आगे कैसे चला?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज, सुनिये अब मैं आगे जैसे निमि वंश चला उस वृत्तान्त को सुनाता हूँ आप सावधान होकर श्रवण करें। निमि के मर जाने पर निमि का सिंहासन रिक्त हो गया। उनके राज्य में अराजकता फैल गई। धर्म कार्य बन्द हो गये। तब तो लोक का कल्याण करने वाले ऋषि मुनि चिन्तित हुए। वे बड़े-बड़े ज्ञानी ब्रह्मर्षि परमर्षि मिलकर यज्ञ मंडप में आये। वहाँ उन्होंने निमि के निर्जीव शरीर का देखा सर्व समर्थ मुनियों ने उस शरीर को मथना आरम्भ किया। योग युक्त बुद्धि से सर्वज्ञ मुनियों के मथने से उनके संकल्प से उस शरीर में से एक बड़ा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। मथने से वह उत्पन्न हुआ इसलिये सब उसे मिथिल कहने लगे। विदेह से उत्पन्न हुआ इस लिये उसे वैदेह भी कहने लगे। मृतक शरीर से जन्म लेने से उसकी जनक संज्ञा हुई। उस पुत्र को देखकर सभी ऋषि मुनि तथा प्रजा के लोग परम प्रसन्न हुए। उन राजा मिथिल ने एक नगरी बसाई जो मिथिला के नाम से प्रसिद्ध हुई। ये ही जनक वंश के सर्व प्रथम राजा हुए। उनके वंशज सभी मैथिल जनक और विदेह कहलाये। इनके सभी वंशज ब्रह्मज्ञानी और जीवन्मुक्त

हुए। इनके पुत्र जो हुए वे उदावसु जनक के नाम से संसार में विख्यात हुए।

उदावसु जनक के पुत्र नन्दिवर्धन हुए। नन्दिवर्धन के पुत्र सुकेतु और सुकेतु के देवरात हुए। देवरात से महाराज बृहद्रथ हुए इन्होंने ब्रह्मर्षि, याज्ञवल्क्यजी से आत्मज्ञान सम्बन्धी बड़े ही गूढ़ प्रश्न किये थे, भीष्मजी ने उनका विस्तार से वर्णन धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर महाभारत के शांति पर्व में किया है। इनके बृहद्रथ के पुत्र महावीर्य हुए। महावीर्य से सुधृति हुए। महाराज सुधृति के पुत्र धृष्टकेतु हुए उनके हर्यश्व और हर्यश्व से मरु का जन्म हुआ। मरु से प्रतीपक, प्रतीपक के कृतिरथ, कृतिरथ के देवमीढ़ उनके विश्रुत और विश्रुत के पुत्र परम ज्ञानी महाधृति हुए। महाधृति के कृतिरात और कृतिरात के महारोमा हुए। महारोमा के पुत्र ह्रस्वरोमा और ह्रस्वरोमा के पुत्र महाभाग्यशाली, परमपुण्यवान् विश्वविख्यात इन्द्रादिक देवों से भी वन्दित पुण्यश्लोक महाराज सीरध्वज हुए। इन्हीं को भगवती सीता के पिता होने का विश्व वन्दित पद प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवती सीता का जन्म कैसे हुआ, हमने सुना है, जगज्जननी तो अयोनिजा हैं, उनका जन्म तो किसी मानवीय महिला के उदर से नहीं हुआ। आप कहते हैं वे जनक की पुत्री हैं।"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाराज! सीताजी तो वास्तव में अयोनिजा हैं, उनकी उत्पत्ति रजवीर्य से नहीं हुई। फिर भी जनकजी ने उनका पालन किया, अतः वे पालक पिता थे। वास्तव में तो जानकीजी जगज्जननी हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड ही उनकी कृपा की कोर से उत्पन्न होते हैं। फिर भी लीला के निमित्त उन्होंने शरीर धारण किया था। अतः उपचार से जनक जी

उनके पिता कहलाये। पूर्व जन्मों की तपस्या के प्रभाव से ही वे जगज्जननी के जनक के नाम से प्रसिद्ध हुए। जगन्माता उन्हीं के सम्बन्ध से जानकी, जनकनन्दिनी, जनकात्मजा, वैदेही, मैथिली, मैथिलेशकुमारी आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं। जानकी जी कैसे पैदा हुईं अब आप इस वृत्तान्त को भी सुनिये।"

छप्पय

उनिस पीढ़ीमाँहिँ ह्रस्वरोमा जनमे सुत।
सीरध्वज तिनि पुत्र जगतमहँ परम नीति युत॥
भये यशस्वी पुत्र कुशध्वज तिनके प्यारे।
पुत्री सीता भई उभय कुल जिनने तारे॥
जनकदुलारी मैथिली, जनकसुता सीता सती।
वैदेही जनकात्मजा, जिनहिँ जपहिँ जोगी जती॥

सीता पिता महाराज सीरध्वज

(७१२)

ततः सीरध्वजो यज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

सीरध्वज मख करन भूमि शोधन हित आये।
ऋषि मुनि ज्ञानी विप्र शोधिवे तहाँ बुलाये॥
शोधी सब ने भूमि जनक हल तहाँ चलायो।
तबहिं अवनि तें प्रकटि सीय निज रूप दिखायो॥
सीर माँहि सीता भई, लखि कृतार्थ नृप है गये।
पाली पुत्री मानिकें, सीरध्वज तातें भये॥

सामान्य नियम ऐसा है, कि पिता के नाम से पुत्री का परिचय दिया जाता है। "यह लड़की कौन है ?" तो समान्यतया घर में तो उसके बाप का नाम बताते हैं और ननिहाल मे उसकी माता

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज ह्रस्वरोमा के सीरध्वज उत्पन्न हुए। वे महाराज सीरध्वज एक बार यज्ञ के लिये हल से पृथ्वी जोत रहे थे उसी समय उनके हल की फार (सीर) के अग्रभाग से सीता जी भूमि से उत्पन्न हो गयीं। इसीलिये उनका नाम सीरध्वज प्रसिद्ध हुआ।'

का नाम बताते हैं, अमुक की लड़की है। या अमुक की लड़की की लडकी है। किन्तु कोई कन्या ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्ध से पिता माता का परिचय कराया जाता है। वैसे हम सुनयना रानी कहें तो कोई न समझेगा। पूछेंगे—"सुनयना कौन थी जी?" तो उसी समय कह दिया जाय, माता जी की माता थीं, तो तुरन्त सब समझ जायँगे। सब साधारण में सीरध्वज महाराज प्रसिद्ध नहीं हैं। जानकी जी के पिता जनक थे। सीता जी के कारण ही राजा जनक का नाम सीरध्वज प्रसिद्ध हुआ। वदेही सीता का नाम क्यों है? क्योंकि उनके पिता विदेह कहलाते थे। मैथिली सीताजी का नाम इसलिये था, कि वे मिथिलाधिप की पुत्री थीं। साराश इतना ही है, कि महाराज सीरध्वज राजा थे, ज्ञानी थे, किन्तु उनकी प्रसिद्धि जगज्जननी जानकी के जनक होने से ही हुई।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! महाराज सीरध्वज जनक ने एक बार यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ के योग्य भूमि का शोधन कराया। सर्वज्ञ ऋषियों ने सब देखकर ज्ञान दृष्टि से विचार कर एक भूमि को यज्ञ के उपयुक्त ठहराया। महाराज जनक ने भी ब्राह्मणों की आज्ञा शिरोधार्य करके उस स्थान में यज्ञ करने का निश्चय किया। विधि-वत् पूजन करके महाराज स्वयं सुवर्ण के हल से उस भूमि को जोतने लगे। जोतते-जोतते उनके हल की फार एक स्थान पर अटक गई। हल की फार से जो भूमि खुद जाती है, उसे कूढ या सीर कहते हैं। उसमें से घडा निकला, जिसमें एक परम सुन्दरी कन्या थी। राजा उस कन्या को देखकर परम प्रमुदित हुए। ऐसी रूप लावण्य युक्त परम सुन्दरी कन्या उन्होंने कभी नहीं देखा थी। उन्हें ऐसा लगा मानों स्वयं सिद्धि ही यज्ञ से पूर्व प्रकट हो गई।

थे भूमि के पति थे अतः पृथ्वी ने अपने पति को अपने उदर से कन्या रत्न को अर्पित किया। महाराज ने अत्यन्त उल्लास से उस कन्या को गोद में लेकर अपनी महारानी सुनयना को दिया।

सुनयना की गोद भर गई। वे ऐसी परम सुन्दरी कन्या को पाकर अत्यन्त ही आनंदित हुई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी के भीतर

ऐसी सुन्दर कन्या कहाँ से आ गई ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इस सम्बन्ध में कल्प भेद से बहुत सी कथायें हैं। एक कथा तो यह है कि जब पृथ्वी पर रावण राजा हुआ, तो उसने दिग्विजय करके सभी को अपने आधीन कर लिया और सभी से कर लेने लगा। जब मनुष्य के विनाश का समय आता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिसका नाश होने वाला होता है, वह वेद शास्त्र, देवता, ब्राह्मण, साधु, गौ तथा धर्म से द्वेष करने लगता है।"

रावण ने देखा—"ये साधु वनों में बड़ा आनन्द करते हैं। इनके वनों को कोई अपने राज्य में नहीं मानता। ये यथेष्ट फल मूल खाते हैं। कितने पेड़ इनके आश्रमों में होते हैं। किसी राजा के शासन को भी नहीं मानते, यदि इन पर कर लगा दिया जाय तो ये आधीन हो जायँ और हमारी सब आज्ञाओं का पालन करने लगें।" यह सोचकर उसने अपने सेवकों को मुनियों के पास कर लेने को भेजा।

मुनियों ने मिलकर कहा—"हम लोग अरण्यों में रहते हैं। फल मूलों पर निर्वाह करते हैं, हमारे पास कर देने को क्या रखा है ?"

सेवकों ने जाकर रावण से ये सब बातें कह दीं। तब रावण ने कहा—"ऋषियों के पास शरीर तो है, कह दो उसी में से कुछ दें। तुम लोग पुनः जाकर ऋषियों से कर माँगो।"

सेवकों ने पुनः जाकर ऋषियों से आग्रह किया। यह सुनकर ऋषियों को क्रोध आ गया। उन्होंने एक सभा की और उसमें सर्व सम्मति से निश्चय किया, कि अपने-अपने तपः पूत रक्त को निकालकर करके रूप में दो। इसी में से आदि शक्ति जगज्जननी उत्पन्न होकर इस दुष्ट को मारेंगी, और हमारे दुःख

का दूर करेंगी, ऐसा निश्चित करके सब ऋषियों ने कुछ-कुछ रक्त दिया। उससे एक घट भर गया, उसको रावण के सेवकों को देते हुए ऋषियों ने कहा—"हमारे पास यही कर है। इसीसे एक शक्ति उत्पन्न होगी, जो तेरा नाश करेगी।"

सेवक घड़े को लेकर चले गये और यह वृत्तान्त जाकर रावण से कहा—रावण यह सुनकर घबराया। पापी का हृदय ही कितना होता है। उसने सेवकों स कहा—"इसे बहुत दूर ले जाकर कहीं पृथ्वी के नीचे गाड़ आओ।"

यह सुनकर सेवक उस घट को ले गये और धर्मात्मा ज्ञानी महाराज जनक के राज्य मे भूमि मे गाड़ आये। उसी से एक शक्ति बन गई, जो अन्त मे राजा को हल चलाते हुए मिलीं। जिन्होंने रावण का वध किया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! रावण का वध तो श्री रामचन्द्रजी ने किया था। सीताजी ने रावण का वध कहाँ किया? हाँ वे उसके वध मे निमित्त आवश्य हुईं।"

इस पर सूतजी बोले—"अजी, महाराज! इस सृष्टि में अनेक घटनायें घटती हैं।

भगवान् नाम रूप रखकर नाना भाँति की क्रीडायें करते रहते हैं। उनका आदि नहीं अन्त नहीं। उनमे सभव नहीं असभव नहीं भेद नहीं, विरोध नहीं, भगवान् के लिये सब सभव है। जिस रावण के वध मे वैदेही निमित्त कारण हुईं, वह तो साधारण रावण था, महारावण का वध तो जगज्जननी जानकीजी ने ही किया, रामजी की क्या सामर्थ्य थी जो उस महारावण का वध कर सकते, यह तो महा शक्ति का ही कार्य है।"

इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! वह महारावण कौन था, सीताजी ने उसका वध कैसे किया

कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें सुनाइये। इसे सुनकर तो हमें बडा आश्चर्य हो रहा है।"

दृढता के स्वर म सूतजी ने कहा—"अजी, महाराज! भगवान् का माया में क्या आश्चर्य। सम्पूर्ण ससार ही एक महा आश्चर्य है। महारावण की कथा ता बहुत वडी है। उसे यहाँ में पूरी कहने लगूँ, तो जनक वश का वर्णन रह ही जायगा अत मैं इसे सक्षेप म सुनाता हूँ। आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।"

रावण को मार कर जब भगवान् राज्य सिहासन पर बैठे और सभा देवता, ऋषि, मुनि प्रशसा करने लगे, तब हँसते हुए जानकीजी ने कहा—"दश मुख रावण को मार देना, यह कौन सी बडी बात है, वह तो एक साधारण जाव था। यदि भगवान् महारावण को मार दें, जिसके सहस्र मुख हैं, तो प्रशसा की बात भी है।"

यह सुनकर श्री रामचन्द्रजी को वडा लज्जा लगी। उन्होंने पूछा—"महारावण कौन है और वह कहाँ रहता है?"

जानकीजा ने कहा—"वह महारावण लका छोडकर प्रलका में रहता है। उसके सहस्र मुख हैं, उसे मारने से ही भगवान् की प्रशसा हो सकती है।"

इतना सुनते ही भगवान् ने तुरत महा लका या प्रलका मे सन्य सजा कर जाने की आज्ञा दे दी।"

आज्ञा पाते ही सब सैनिक लड़ने के लिये चले। भगवान् ने महा लका म जाकर महारावण को सदेश भेजा, हम तुमसे युद्ध करेंगे। यह सुनते ही वह हँस पडा और कहा—"राम की क्या सामर्थ्य है, जो मुझसे लड सके।" मुनियो! यह बहुत बडा कथा है, मैं इसका विस्तार न करूँगा। सक्षेप मे सुनाता हूँ।

महारावण से युद्ध करके अंगद, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, भरत शत्रुघ्न, लक्ष्मण सबके सब परास्त हो गये। श्रीरामचन्द्र जी भी लड़ने गये। वे भी हार गये, तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। सोचने लगे—"अब मैं क्या करूँ मेरी तो सब कीर्ति धूलि में मिल गई।"

श्रीराम को अत्यन्त चिन्तित देखकर गुरु वसिष्ठ बोले—"राघव! आप चिन्ता क्यों करते हैं। महारावण को आप कभी भी नहीं मार सकते। आप क्या कोई भी संसार में उसे नहीं मार सकता।"

श्रीरामचन्द्रजी ने चिन्तित होकर पूछा—"तब प्रभो! यह कैसे मरे ?"

वसिष्ठजी ने कहा—"ये जो तुम्हारी बगल में जानकी बैठी हुई हैं, ये साक्षात् जगदम्बा हैं ये चाहें तो रावण को मार सकती हैं। आप इनकी प्रार्थना करें, इनके प्रसन्न होने से ही सब कुछ सम्भव हो सकता है।"

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संकोच में पड़ गये किन्तु करते ही क्या, स्वार्थ के लिये सब कुछ करना पड़ता है। बहू के सामने हाथ जोड़कर स्तुति करना, यह तो साधारण काम है, जिसने ऐसा नहीं किया वह यथार्थ में पति ही नहीं।

श्रीरामचन्द्रजी ने आदि शक्ति जगदम्बा की स्तुति की। जगदम्बा ने अपनी शक्ति से और भी बहुत सी शक्तियों को उत्पन्न किया, उन सब ने मिलकर रावण के सहस्रों सिर काट डाले, महारावण मर गया। श्रीरामचन्द्रजी को अब श्री सीता के बल पराक्रम का ज्ञान हुआ। इस प्रकार महाशक्ति जगदम्बिका जानकी ने श्रीराम से भी न मारे जाने वाले महारावण का वध किया। यह किसी कल्प की कथा है। इसी प्रकार सीता जी

के जन्म के सम्बन्ध मे एक दूसरी भी कथा है । वह इस प्रकार है ।

एक समय की बात है रावण तीनो लोको को विजय करता हुआ हिमालय के पुण्य प्रान्त में पहुँचा । वहाँ उसने अनुपम रूप लावण्य युक्त एक ललना ललाम को देखा । वह अविवाहिता कन्या था । योवनावस्था ने विना सूचना दिये ही उसके शरीर में प्रवेश किया था । उसका अनवद्य सौन्दर्य था अग प्रत्यग से लावण्य छन छन कर उस पर्वत प्रान्त को लावण्य युक्त बना रहा था । वह अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो रही थी । मृग चर्म, धारण किये, तपस्विनीयो का सा वेष बनाये वह मूर्तिमती तपस्या प्रतीत होती थी । एकान्त अरण्य मे ऐसी अनुपम रूप लावण्य युक्त ललना को देखकर रावण काम के बाणो से विद्ध हो गया । उसने मधुर वाणी में कहा—"देवि ! तुम कोन हो ? किसकी पुत्री हो ? इस घोर अरण्य में एकाकी क्या वास कर रही हो । तुम्हारा सौन्दर्य, ऐसी अवस्था और इसके विपरीत ऐसी कठिन तपस्या यह अत्यन्त विपरीत बातें क्यो हो रही है । तुम मुझे अपना परिचय दो ।"

उस कन्या ने सरलता के साथ कहा—"महानुभाव ! आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें । यह पैर धोने को जल लें । ये फल खाकर जल पीवें अपने श्रम को दूर करें, तब मैं अपना परिचय आपको दूँगी ।"

उसकी वीणा विनिन्दित अत्यन्त मधुर वाणी सुनकर रावण ने कहा—"देवि ! तुम्हारे मधुर वचनो से ही मेरा सत्कार हो गया तुम्हारा दर्शन करते ही मेरा सम्पूर्ण श्रम नष्ट हो गया, तुम मुझे अपना पूर्ण परिचय दो ।"

इस पर वह कन्या बोली—"अच्छी बात है, सुनिये में आप

को अपना परिचय देती हूँ। समस्त देवताओं के गुरु भगवान् बृहस्पति हैं, देवताओं के गुरु होने से वे गुरु या देव-गुरु भी कह लाते हैं। उनके एक पुत्र हुए जिनका नाम कुशध्वज था। वे कुश ध्वज ही मेरे पिता थे। वाङ्मीय कन्या मैं उन्हीं से मेरी उत्पत्ति हुई। पिता ने मेरा नाम वेदवती रखा, वे मुझे अत्यन्त ही प्यार करते थे जब मैं विवाह योग्य हुई तो बहुत से देवता, यक्ष, गन्धर्व मुनिपुत्र तथा राजपुत्रों ने आकर मेरे पिता से मुझे माँगा। बहुतों ने मेरे साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु मेरे पिता ने किसी को भी मुझे नहीं दिया।"

यह सुनकर रावण ने पूछा—"देवि! जब इतने बड़े बड़े लोगों ने आकर तुम्हारे पिता से याचना की, तो तुम्हारे पिता ने उन्हें क्यों नहीं दिया। सयानी पुत्री का विवाह करने के लिये तो पिता अत्यन्त ही चिन्तित और उत्सुक बने रहते हैं।"

वेदवती ने कहा—"राक्षसेन्द्र! जिस कारण मेरे पिता ने मुझे किसी को नहीं दिया, उसे भी मैं आपको सुनाती हूँ। आप ध्यान पूर्वक सुनें। मेरे पिता चाहते थे, मेरे जामाता स्वयं विष्णु भगवान् हों। इसी आशा से वे मुझे किसी को देना नहीं चाहते थे।"

एक बार दैत्यों के राजा शम्भु ने मेरे पिता से मेरी याचना की, पिता ने उसे भी मना कर दिया। वह दैत्यराज मेरे साथ विवाह करने को अत्यन्त उत्सुक था, पिता से सूखा उत्तर पाकर वह क्रुद्ध होकर चला गया। किन्तु उसके मन का मैल नहीं गया। उसने इसमें अपना बड़ा अपमान समझा और पिताजी से उस अपमान का बदला लेने के लिये सोचने लगा। एक दिन पिताजी गाढ़ निद्रा में सो रहे थे। वह दुष्ट रात्रि में चुपके से आया और सोते हुए पिताजी का उसने वध कर दिया। मेरी माता को इस

घटना से बड़ा दुःख हुआ। वे मेरे पिता के शरीर को लेकर अग्नि में प्रवेश कर गई।

जब मैंने देखा मेरे पिता मुझे श्री मन्नारायण को देना चाहते थे, पुराण पुरुष के साथ मेरा विवाह करना चाहते थे, तो मैं उनकी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के निमित्त यहाँ वन में चली आई। मैं उन पुराण पुरुष पुरुषोत्तम को ही पति मान कर उनकी आराधना करती हूँ। मैंने तो अपना हृदय उन्हें अर्पित कर ही दिया है, मैंने तो मन से उन्हें वरण कर ही लिया है, अब अपनाना न अपनाना उनका काम है। उन्हीं सर्वेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त मैं घोर तप कर रही हूँ। यह मैंने आपको अपना परिचय दे दिया, अब आप सुख पूर्वक जा सकते है।"

रावण ने कहा—"देवि मैं जाना भी चाहूँ, तो नहीं जा सकता, मेरे पैर उठते नहीं, मानो वे यहाँ चिपक गये हैं। अब तक तुम्हारा विवाह न हुआ यह सौभाग्य की ही बात है। हे सुन्दरि! मैं तुम्हारे रूप पर अनुरक्त हूँ, मैं तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर प्रमत्त हो गया हूँ। भामिनि! दैव ने तुम्हें मेरे ही लिये बनाया है। तीनों लोकों का स्वामी मैं हूँ, सभी लोकपाल मेरे नाम से थर-थर काँपते हैं। मेरे सम्मुख विष्णु क्या है, विष्णु तो देवताओं की भाँति मेरे सम्मुख भी नहीं आ सकते। तुम हठ को छोड़ो, मुझे अपना पति बना लो। तुम्हें तुम्हारी तपस्या का फल मिल गया।"

वेदवती ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"राक्षसराज! आपको ये बातें शोभा नहीं देतीं, मैं तो भगवान् विष्णु की पत्नी हो चुकी। आप भगवान् पुलस्त्य के पौत्र हैं, उत्तम कुल में आपका जन्म हुआ है। पर स्त्री के प्रति बुरे भाव रखना आपको उचित नहीं।"

यह सुनकर रावण ने अधिकार के स्वर में कहा—"सुन्दरी! तुम्हें अपने रूप का बड़ा अभिमान है। होना भी चाहिये क्योंकि

ऐसी सुन्दरी स्त्री मैंने आज तक नहीं देखी। तुम्हारी यह अवस्था सुख भोग की है, तुम्हें बाबाजियों की भाँति तपस्या करना शोभा नहीं देता। तुम बार-बार विष्णु-विष्णु कह रही हो, वह विष्णु कौन है, वह तो भगोड़ा है, असुरों से युद्ध करते-करते भाग जाता है। वह बल में, वीर्य में, तेज में, ओज में, ऐश्वर्य में, किसी में भी मेरी बराबर नहीं। तुम उस विष्णु का मोह छोड़ कर मेरे साथ विवाह करके यथेच्छ सुख भोगो।"

वेदवती यह सुनकर परम क्रुद्ध हुई वह बोली—"राक्षस! तू सचमुच राक्षस ही है। अरे, त्रिलोक के स्वामी श्री विष्णु के लिये तेरे अतिरिक्त और कौन ऐसे शब्द कह सकता है। तू अभी यहाँ से भाग जा, नहीं तेरा कुशल नहीं है।"

इतना सुनते ही रावण को क्रोध आ गया वह बोला—"तू मेरा अपमान करती है? तू मुझे साधारण व्यक्ति समझती है। अच्छी बात है, तू इसका फल भोग।" यह कर उसने वेदवती के बाल पकड़े।"

बालों का पकड़ना था, कि वह कन्या सिंहनी बन गई। तुरन्त उसने क्रुद्ध हुई सर्पिणी की भाँति हाथ से अपने बालों को काट डाला। उस समय सती के प्रभाव से उसका हाथ तलवार बन गया। बाल बीच से कट गये। जो बाल रावण के हाथ में थे, वे उसके हाथ मे रह गये। गरजकर वह बोली—"दुष्ट! तैंने मेरा अपमान किया है। परपुरुष होकर तैंने मुझे काम भाव से स्पर्श किया है, अतः अब मेरा यह शरीर तपस्या के योग्य नहीं रहा। अब मैं इसे भस्म कर दूँगी। मैं चाहूँ तो तेरा वध कर सकती हूँ किन्तु स्त्रियों को ऐसा उचित नहीं। शाप देकर भी तुझे नष्ट कर सकती हूँ। किन्तु शाप से तपस्या नष्ट होती है। अतः अब मैं इस शरीर को अग्नि में भस्म किये देती हूँ, अगले जन्म

में मैं किसी धर्मात्मा पुरुष के यहाँ अयोनिजा होकर उत्पन्न होऊँगी और तुमसे अपमान का बदला लूँगी। तैंने वन मे मेरा अपमान किया है, अतः तेरे वध का कारण वन ही होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर वेदवती ने तुरन्त सूखी-सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी की और उनमें अग्नि लगाकर अपने शरीर को भस्म कर दिया। रावण पाषाण की मूर्ति की भाँति खड़ा-खड़ा सब देखता रहा और अन्त मे उदास मन से चला गया।"

यही देवी महाराज जनक के हल चलाते समय भूमि से उत्पन्न हुई। उसका नाम सीता हुआ। महर्षि कुशध्वज भगवान् को जामाता बनाने की इच्छा लेकर मरे थे, अतः वे ही पवित्र जनक वंश में उत्पन्न हुए। सीर से सीता निकलने के कारण उनका नाम सीरध्वज हुआ। ये सीरध्वज परम धार्मिक और महान् विद्वान् थे। घर मे रहते हुए भी ये विरागी थे।

इस प्रकार सीता जी के जन्म सम्बन्ध मे अनेकों कथाएँ हैं, वास्तविक बात तो यह है, कि सीता जी भगवान् की आदि शक्ति हैं। भगवान् जहाँ-जहाँ भी अवतरित होते हैं। वहाँ-वहाँ ये भी अवतरित होती हैं, क्योंकि शक्ति के बिना शक्तिवान् कुछ कर नहीं सकता। सभी कार्य शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। शक्ति-शाली ही सब कुछ कर सकते हैं, जिन्होंने जन्म जन्मान्तरों में सुकृत किये हैं, ऐसे सौभाग्यशाली पुरुषों के ही यहाँ शक्ति प्रकट होती हैं। शक्ति के आधार पर ही यह सम्पूर्ण विश्व टिका हुआ है। आदि जनक से लेकर अब तक के जितने जनक हुए हैं सभी के तप, तेज, ज्ञान, ध्यान तथा समस्त सुकृतों के फल स्वरूप सीता जी उनके वंश मे उत्पन्न हुईं या स्वयं ही कृपा करके शक्ति ने उनके कुल को कृतार्थ करने के लिये अवतार धारण किया। जिस प्रकार महाराज सीरध्वज की पुत्री सीताजी हुईं। यह मैंने अत्यंत

संक्षेप में आपसे सीताजी की उत्पत्ति की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी ! अब आप महाराज सीरध्वज से आगे के जनक वंशीय राजाओं का वर्णन करें।"

सूतजी बोले—"सुनिये महाराज ! अब मैं आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ। सीता के पिता महाराज सीरध्वज जनक के पुत्र हुए कुशध्वज। ये महाराज भी अपने पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदि की भाँति परमज्ञानी और जीवन मुक्त थे। इनके पुत्र महाराज धर्मध्वज हुए। जिनका कि योगिनी सुलभा से बड़ा ही अध्यात्मपूर्ण संवाद हुआ था।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! यह सुलभा योगिनी कौन थी ? इनका महाराज धर्मध्वज जनक से कहाँ सम्वाद हुआ ? उसमें मुख्य विषय क्या था, कृपा करके जनक और सुलभा के सम्वाद की बात हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! इस कथा प्रसङ्ग में ऐसे गूढ़ ज्ञान का विस्तार नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रसङ्ग वश संक्षेप में मैं आपको सुलभा और महाराज धर्मध्वज के सम्वाद की बात सुनाता हूँ, आशा है आप इस गूढ़ ज्ञान सम्बन्धी आख्यान को ध्यान से सुनेंगे।"

छप्पय

सीय पिता बनि जगत माँहि यश विपुल कमायो।
कियो राम सँग ब्याह नृपति निज भाग्य सरायो।।
आदि शक्ति है सीय जगत छिन माँहि बनावें।
पाले पोसें सतत अन्तमहँ प्रलय करावें।।
यह प्रपंच सब शक्ति को, क्रीडा-थल ऋषि मुनि कह्यो।
जगदम्बा के पिता बनि, सीरध्वज अति यश लह्यो।।

महाराज धर्मध्वज और योगिनी सुलभा

(७१३)

कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

सीरध्वज सुत भये कुशध्वज जनक अमानी ।
धर्मध्वज तिनि पुत्र कर्मयोगी अति ज्ञानी ॥
लोक वेद महँ निपुण सबनिकूँ ज्ञान सिखावें ।
परमारथके प्रश्न पूछिवे पंडित आवें ॥
भयो सुखद सम्वाद शुभ, सुलभा योगिनि मगमहँ ।
घुसी योगिनी योग तैं, जनक नृपति के अगमहँ ॥

दो समान शील व्यक्ति मिलते हैं, तो परस्पर के सत्सङ्ग से बोध उत्पन्न होता है, दोनों को ही सुख होता है। ज्ञानी, ज्ञानी की खोज करता है, व्यसनी, व्यसनी की। समान धर्म हुए विना सत्सङ्ग सुख नहीं होता। इष्ट और मन के विना मिले, अपनापन नहीं होता वादविवाद में भले ही कड़े शब्दों का प्रयोग हो जाय,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन ! सीता पिता महाराज सीरध्वज के सुत कुशध्वज हुए। उनके पुत्र धर्मध्वज हुए। धर्मध्वज के दो पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम कृतध्वज और दूसरे का नाम मितध्वज था।

किन्तु भावना दोनों की ही शुद्ध रहनी चाहिये। क्योंकि ज्ञानी पुरुष और वीणा छेड़ने से-आघात करने से-ही सुख देते हैं। छड़ते-छेड़ते वे मिल जायँ एक स्वर हो जाँय; तब तो कहना ही क्या, ब्रह्मानन्द का प्राप्ति हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे योगिनी सुलभा और धर्मध्वज जनक के सम्वाद के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। यह गूढ़ ज्ञान से युक्त सम्वाद अत्यन्त गम्भार है, इसे सुनते समय चित्त तनिक भी इधर-उधर गया, तो सब गुड़ गोवर हो जायगा। इसलिये आप इसे भली भाँति स्वस्थचित्त होकर सावधानी से श्रवण करें।"

प्राचीनकाल में सुलभा नाम की एक बड़ी ही प्रसिद्ध योगिनी स्त्री हो गई। वह उन दिनों की स्त्रियों में बहुत उच्च कोटि की योगिनी थी। महाराज धर्मध्वज जनक भी उन दिनों के परम ज्ञानी थे। वे वैदिक कर्मकाण्ड तथा मोक्षप्रद ज्ञानकाण्ड दोनों में ही निष्णात थे। सर्वत्र उनके ज्ञान, वैराग्य, सदाचार तथा त्याग की ख्याति था। सुलभा के मन में हुआ कि देखें तो सही, जनक की बड़ी प्रशसा है, यथार्थ में वे पूर्ण ज्ञानी हैं, या उनके ज्ञान में कुछ त्रुटि हैं। इसी जिज्ञासा से वह महाराज जनक के दरबार में आई। यद्यपि वह भिक्षुणी संन्यासिनी थी, तो भी त्रिदण्ड आदि संन्यास के सब चिन्हों को त्याग कर आई थी। संयोग की बात उस समय महाराज जनक भी छत्र चँवर आदि चिन्हों को छोड़कर साधारण आसन पर सभासदों के साथ बैठे बातें कर रहे थे। ब्रह्मज्ञान की चर्चा हो रही थी, उसी समय योगिनी सुलभा वहाँ आई। वह अपना यथार्थ रूप छिपाकर एक अत्यन्त ही सुन्दरी स्त्री बनकर आई थी। उसके मुखमण्डल पर तेज विराजमान था। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य फूट-फूटकर निकल रहा था। उसके अंग सुडौल

और सुकुमार थे। देखने में वह स्वर्गीय देवी सी प्रतीत होती थी। राजा ने उस तेजस्विनी योगिनी का विधिवत् स्वागत सत्कार किया। सुन्दर आसन पर बिठाकर उसकी पूजा की। फल मूल भेंट किये और कुशल पूछी। राजा की पूजा को स्वीकार करके योगिनी

राजा के सम्मुख बैठ गई। वह तो राजा की परीक्षा करने ही आई थी। उसे संदेह था, कि सर्वत्र राजा जनक का जैसा नाम है, वैसा वह त्यागी तथा जीवन्मुक्त है या नहीं। इसीलिये उसने अपने बुद्धिसत्व से राजा के बुद्धिसत्व में प्रवेश

किया। उसने अपने नेत्रों को राजा के नेत्रों से मिलाकर त्राटक विधि के द्वारा राजा पर अपना प्रभाव जमाना चाहा। राजा को तो पूर्ण विश्वास था, मेरे ऊपर किसी का प्रभाव पड़ नहीं सकता। अतः वे बिना कुछ बाधा दिये चुप-चाप बैठे रहे, उन्होंने सुलभा के किसी काम में विक्षेप नहीं किया, जब वह बुद्धि के द्वारा राजा के शरीर में प्रवेश कर गई, तब महाराज धर्मध्वज ने पूछा—"देवि! आपने यह वेष क्यों बना रखा है? आपको यह वेष बनाने का अधिकार किससे प्राप्त हुआ?"

सुलभा योगिनी ने कहा—"राजन्! सभी ने कोई न कोई वेष बनाया ही है। किसी ने राजा का वेष बनाया है, कोई अपने को साधुवेष में सजाता है, कोई अपने वेष से परमहंस अपने को प्रकट करता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसका कुछ न कुछ वेष न हो, फिर मैंने कोई वेष बना रखा है, तो इसमें आपको आश्चर्य क्यों हुआ।"

इस पर राजा ने कहा—"वेष तो सबका कुछ न कुछ होता ही है, किन्तु मुझे ऐसा लगता है, कि तुम्हारा यह यथार्थ वेष नहीं। तुम वेष बदलकर मेरे समीप आयी हो, बुद्धिमानों को चाहिये राजा के समीप और स्त्रियों के समीप वेष बदल कर न जाय, ऐसा करने से अनर्थ हो सकता है। तुम वेष बदलकर मेरे पास आई हो, तुम अपना यथार्थ परिचय मुझे दो। तुम कौन हो? तुम्हारे पिता का क्या नाम है? तुम्हारा विवाह हुआ या नहीं? यदि हुआ है तो तुम्हारे पति का क्या नाम है? इस समय तुम कहाँ से आ रही हो? यहाँ आने का तुम्हारा अभिप्राय क्या है? तुम यहाँ से कहाँ जाओगी?"

— इस पर सुलभा ने कहा—"देखिये राजन्! वेप तो यथार्थ है ही नहीं, वह तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। परमात्मा को छोडकर एक भी कोई ऐसा वेप हो, जो बदलता न हो, वह मुझे बताओ। जब कोई यथार्थ वेप है ही नहीं, सभी बनावटी और परिवर्तनशील हैं, तो तुम मेरे वेप को बनावटी क्यों बताते हो? अब तुम पूछते हो तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? ये प्रश्न तो मित्रता में होते हैं? अमुक यह है, अमुक वह है, मैं यह हूँ, और तुम कौन हो? मेरी दृष्टि में तो सब एक ही है। सभी की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है, फिर मैं कैसे बताऊँ, कि मैं यह हूँ। बिन्दु बिन्दु मिलकर जल राशि बनी है, जैसे वे सब मिले हुए हैं, वैसे ही सभी प्राणी परस्पर मे एक राशि में मिले हैं। देखने को तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और अकाश ये भिन्न भिन्न हैं, इनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये गुण भी भिन्न भिन्न हैं, किन्तु फिर भी एक दूसरे से मिले हुए हैं। पृथ्वी में शब्द, रूप, रस गन्ध स्पर्श ये सभी हैं। एक भूत दूसरे से मिला है। फिर भी इनसे यह प्रश्न तो नहीं किया जाता कि तुम कौन हो। जल मे धूलि भी मिली है, तेज भी है, शब्द भी है किन्तु जल स्वयं अपने को बताने में समर्थ नहीं। इनकी बात छोड दीजिये नेत्र इन्द्रिय सबके रूपों को बताती है। किन्तु स्वयं वह अपने को नहीं बता सकती। पंचभूत उनकी तन्मात्रायें, दशो इन्द्रियाँ, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ये सभी प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, जितने जीव हैं सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। जिसका तू है उसी की मैं हूँ, फिर तुम्हारा यह प्रश्न कैसे बनता है, कि तू कौन है। रही बनावट की बात, तू कहता है, मैंने अपना वेप बदल लिया है रूप परिवर्तन कर लिया

हैं, तो भी तू सोच ले, एक-सा रूप जिसका रहता है, प्रतिक्षण सबका रूप बदलता रहता है।

स्त्री का रज पुरुष का वीर्य दोनों मिलकर दोनों ही अपने रूप को बदल देते हैं। तत्क्षण वे मिलकर कलल हो जाते हैं, फिर कलल बदल कर बुद्-बुद् बन जाता है। बुद्-बुद् से पेशी, पेशी से मासपिंड, उनसे अंग प्रत्यग बनते हैं। इन्द्रियों के गोलक सप्त धातु नख रोम ये सब बदलते ही रहते हैं। जो बुद् बुद् था, वह अब बालक बन गया। बालक ९ महीने के पश्चात् उदर से उत्पन्न होकर स्त्री पुरुष सत्ता को प्राप्त होता है। बच्चा कहलाता है; उसकी त्वचा कितनी कोमल होती है। अग प्रत्यग कितने सुकुमार होते हैं, प्रतिक्षण बदलता जाता है, अगों में कठिनता आती है, रूप परिवर्तित होता है, बाल निकलते हैं, झुर्रियाँ पड़ती हैं, बाल पकते हैं, बाल्य, कौमार, पौगड, किशोर, युवा तथा वृद्धादि अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रङ्ग रूप, आकृति, प्रकृति तो बदलती ही रहती है, प्रतिदिन नहीं प्रतिक्षण यह बदला बदली होती रहती है, किन्तु इतनी सूक्ष्म रीति से यह बदली होती है, कि इसे प्राणी जान नहीं सकते। किसकी उत्पत्ति किससे हुई इसे कोन कह सकता है। जल में अमुक भँवर किससे उत्पन्न हुआ, इसे कौन बतावे। सभी शरीरों मे पृथ्वी है, सभी मे जल, तेज, वायु आकाश, इन्द्रियाँ, मन आदि सभी एक सी हैं, फिर यह निर्णय कैसे किया जाय कि कौन किससे उत्पन्न हुआ। जैसा तेरा शरीर है, वैसे ही दूसरे का है, जैसे तेरे शरीर मे आत्मा विद्यमान है, वैसे ही दूसरे शरीरों मे; फिर यह प्रश्न कैसे बन सकता है। कि मैं कौन हूँ, तू कौन है ?"

इस पर महाराज जनक ने कहा—"देवि ! तुमने मेरे शरीर मे प्रवेश क्यो किया ?"

सुलभा ने कहा—"यह जानने के लिये मैंने तेरे शरीर मे प्रवेश किया, कि तू यथार्थ मे ज्ञानी है या नहीं। राजपाट करते हुए भी सब लोग तुझे क्यों ज्ञानी कहते हैं।"

इस पर महाराज ने कहा—"देवि ! तुम्हे अपने योग का बडा अभिमान है, इसीलिये तुम अभिमान और चचलता वश ऐसे अनुचित कार्य कर रही हो ?"

सुलभा ने कहा—"तुम्हे कौन से कार्य अनुचित दिखाई दिये ?"

राजा ने कहा—"एक तो यही अनुचित कार्य तुमने किया कि स्त्री होकर तुमने मेरे शरीर मे प्रवेश किया।"

सुलभा पूछा—"इसमे अनुचित क्या हुआ ?"

राजा ने कहा—"इसमे सब अनुचित ही हुआ। एक नहीं इसमें अनेक दोष आ गये। यह लोकोक्ति सत्य है, कि स्त्रियाँ स्वतंत्र होने से बिगड़ जाती हैं। तैंने स्त्री सुलभ चञ्चलता वश यह कार्य किया है। मैं ज्ञानी हूँ या अज्ञानी, मुक्त हूँ या बद्ध, तुझे इस बात से क्या प्रयोजन ! एक तो यह काम तैंने चञ्चलतावश किया। दूसरे तू अपने को सन्यासिनी भिक्षुणी योगिनी बताती है। संन्यासी पुरुष के लिये स्त्री का स्पर्श पाप है, इसी प्रकार सन्यासिनी स्त्री को पुरुष का स्पर्श करना दोष है। तैंने मेरे शरीर मे प्रवेश करके सन्यास धर्म को दूषित किया है। इससे प्रतीत होता है, तू नाम की सन्यासिनी है, तेरी अभी पुरुष के स्पर्श की कामना ज्यों की त्यो बनी हुई है। जिसके मन में कामभाव विद्यमान् है, उसे सन्यासी कहाने का अधिकार ही नहीं। एक तो तैंने आश्रम सम्बन्धी

साङ्कर्य किया। दूसरे तू ब्राह्मणी है, मैं क्षत्रिय। ब्राह्मणी स्त्री का क्षत्रिय शरीर में प्रवेश करके तैंने वर्ण धर्म का लोप किया है, तीसरे मोक्षधर्म परायणा त्यागधर्मावलम्बिनी भिक्षुणी है, और मैं संग्रहधर्मी गृहस्थ हूँ। यह तैंने त्यागधर्म को भी दूषित किया है मुझे यह भी पता नहीं तू ब्राह्मणी है या क्षत्राणी। मान लो तू क्षत्राणी ही हो और मेरे गोत्र की हो, तो तेरे द्वारा यह गोत्र साङ्कर्य दोष भी हो सकता है। तू यदि अविवाहिता कन्या है, तो कन्या का पर पुरुष के शरीर में प्रवेश करना महा पाप है। यदि तू विवाहिता है, तो तेरा पति दूसरा होगा। मैं पर पुरुष हूँ, सती स्त्रियों का पर पुरुष से सम्बन्ध करना महा पाप है। यदि तूने अपनी उत्कृष्टता दर्शाने के लिये मेरे शरीर में प्रवेश किया है, तो यह तेरी महान् चञ्चलता है। स्त्रियों के लिये चञ्चलता महान् अवगुण है, अतः सभी दृष्टियों से तेरा यह व्यवहार अनुचित है, गर्ह्य है, दोषयुक्त है। तू मेरी इच्छा के विपरीत बिना मुझसे पूछे ही मेरी बुद्धि में घुस गई है। यह संगम एकाङ्गी है। सम्मति से उभय पक्ष की प्रसन्नता से जो संगम होता है वह सुखकर है। एकाङ्गी संगम दुःखद है अतः तैंने यह विषवमन का कार्य किया है। यदि तैंने विजय की इच्छा से मुझे परास्त करने के लिये ऐसा कार्य किया है, तो यह भी सर्वथा अनुचित है। सन्यास धर्म वालों को विवाद, जय पराजय से सर्वथा पृथक् ही रहना चाहिये। अतः तेरे सभी व्यवहार लोक तथा वेद दोनों ही दृष्टि से निन्दनीय हैं।"

यह सुनकर सुलभा खिलखिला कर हँस पड़ी और बोली—"अरे, जनक मैं तो समझती थी मेरा द्वैतभाव नष्ट हो गया है, तू ब्रह्मज्ञानी हो चुका है, किन्तु तेरी

बातें तो सब अज्ञानियों की सी हैं, आत्मा मे स्वगत विगत स्वजाति. विजाति, स्त्री, पुरुष का भेद ही नहीं। तू तो अपने ज्ञान को वासना रहित बताता है, किन्तु तेरे मन में तो प्रत्यक्ष वासना विद्यमान् है। यद्यपि बुद्धितत्व से मैंने तेरे शरीर मे प्रवेश अवश्य किया है, किन्तु जैसे कमल पत्र जल मे रह कर भी जल को स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार मैंने अपने अगों से तेरे अगो का स्पर्श नहीं किया है। तू तो अपने को जीवन्मुक्त बताता है, कि मन से संग की भावना करने से तू तो स्वधर्म से च्युत हो चुका है। अभी तेरा यह मिथ्याभिमान नहीं गया यह गृहस्थ यह त्यागी। जीव का तो धर्म ही मोक्ष के साथ समागम करता है, इसमे सङ्करता का क्या काम जिसके मन मे भेद है, उसे द्वैत का भान होता है, जब सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान् है तब उनमें सङ्करता संभव नहीं। वैसे भी देखो, संन्यासी का धर्म है एकान्त मे वास करे, मैंने तेरी बुद्धि को एकान्त समझा उसमें मैं सुख से निवास कर गई। लौकिक दृष्टि से भी साङ्कर्य नहीं। तू क्षत्रिय है मैं भी क्षत्रिकन्या हूँ, मेरा तेरा गोत्र एक नहीं। मैं तुझसे हीन जाति की भी नहीं।"

राजा ने पूछा—"देवि ! तुम किस क्षत्रिय की पुत्री हो ?"

सुलभा बोली—"राजन आपने प्रधान नामक राजर्पि का नाम सुना ही होगा। वे बड़े ही यशस्वी और पुण्यश्लोक हैं। उन्होंने बडे-बड़े यज्ञ याग किये हैं। मैं उन्हीं की प्यारी पुत्री हूँ। बाल्य काल से ही मेरी अध्यात्म की ओर रुचि है। मैंने समस्त शास्त्रों का विधिवत् गुरु मुख से अध्ययन किया है। जब मैं विवाह योग्य हुई, तो बहुत से राजकुमार मुझसे विवाह करने आये, किन्तु उनमें कोई भी मेरे अनुरूप नहीं थे। योग्य वर के न मिलने से मैंने गुरु

मुख से मोक्षधर्म का उपदेश ग्रहण कर लिया मैं भिक्षुणी सन्यासिनी बन गई। मैं संन्यास धर्म का विधिवत् पालन करती हूँ, एकान्त मे रहती हूँ। मैं बिना विचारे कोई कार्य नहीं करती। मैने तुम्हारी बहुत प्रशंसा सुनी थी, कि तुम मोक्षधर्मावलम्बी हो, इसीलिये सत्संग के निमित्त मैं यहाँ चली आई। मेरे मन में किसी प्रकार की कामना नहीं है। मैं ब्रह्मचारिणी हूँ मैं अपनी प्रतिज्ञा से कभी च्युत होने वाली नहीं हूँ। मैं तो केवल तुम्हारे ज्ञान की थाह लेने आई थी।"

राजा ने कहा—"देवि तो भी तुम्हारी चंचलता ही है। मैं ज्ञानी हूँ या अज्ञानी इससे तुम्हे क्या? मेरे ज्ञानी होने में सन्देह क्यों हुआ? क्या मूँड़ मुड़ाकर बाबाजी बनने से ही ज्ञानी होते हैं। क्या घर मे रहकर कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। मैंने गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त किया है। मेरे गुरु ऐसे वैसे नहीं हैं। वे संसार मे विख्यात हैं, उनका नाम महामुनि पञ्चशिख है, वे लोक कल्याणार्थ, भूले भटके प्राणियों को सत्पथ दिखाने के निमित्त पृथ्वी पर भ्रमण करते रहते हैं। गत वर्ष इन्होंने यहीं मेरी पुरी मे चातुर्मास्य किया था। वे सांख्य शास्त्र के पूर्ण पडित हैं। योग शास्त्र मे भी पारंगत हैं। उन्होने मुझे सांख्यशास्त्र, योग विधि तथा कर्मकांड तीनों की ही शिक्षा दी है और मै भी उनकी कृपा से निष्णात हो चुका हूँ। उन्होंने मुझे बाबाजी नहीं बनाया। गृहस्थ धर्म मे रहते हुए ही मुझे पूर्ण ज्ञानी बना दिया है। उन गुरुदेव की कृपा से ही मेरे सब संशय दूर हो गये हैं। मेरे हृदय की ग्रन्थि खुल गई है, मैं पूर्ण ज्ञानी हो गया हूँ। मैं राज-काज करते हुए भी उनमे निर्लिप्त रहता हूँ। मोक्ष के साधन ज्ञान वैराग्य हैं। मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है। ज्ञानी के लिये आवश्यक नहीं वह त्यागी वैरागी का वेष बनावे।

वह तो विना वेप बनाये ही सब स्थितियो मे मग्न रहता है। मुख्य तो है अन्तःकरण का शुद्ध होना यदि गृहस्थी मे रहते हुए भी जो सदाचार से रहता है यम नियमों का पालन करता है, तो वह घर में रहता हुआ भी संन्यासी है। इनके विपरीत जो भी नियमों का पालन नहीं करता। संन्यासी का वेप बना लेने पर भी जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, धनादि मे आसक्ति रखता है इन सब वस्तुओं का सग्रह करता है, तो वह संन्यासी होने पर भी गृहस्थों मे गया बीता है। योगिनीजी! केवल अकर्मण्य हो जाने से, अग्नि न छूने से, कापायवस्त्र त्रिदण्डादि धारण करने से ही कोई संन्यासी नहीं बन सकता। जब तक संसारी विपयो से वैराग्य नहीं होता, तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता। मनुष्य मृत्यु के भय से ही इधर-उधर घूमता रहता है। बिना ज्ञान के मृत्यु का भय जाता नहीं। ज्ञान होने पर जीव निर्द्वन्द हो जाता है, फिर वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

बन्धन का कारण पूर्वजन्म कृत पुण्य पाप ही है। कारण रूप से प्राणियों के शरीरो में पुण्य पाप विद्यमान् रहते हैं। बीज जैसे जल से सींचे खेत मे पड़ते ही अंकुरित हो उठता है, वह फिर से वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार वासनामय बीज शरीरों को पाकर जन्म मरण के चक्कर मे फँसते हैं, सुख दुःख भोगते हैं। जब तक कर्मों की वासना बनी रहेगी तब तक बारम्बार जन्म होगा, बारम्बार मृत्यु होगी। जब वासना रूप बीज ज्ञान रूप अग्नि में भून दिया जाता है, तो फिर उसमे अकुर उत्पन्न नहीं होते। मैंने गुरु प्रसाद से उन वासनाओं को भून डाला है। मुझे इन संसारी विपयों में आसक्ति नहीं। ये अनित्य और नाशवान विपय मुझे अपनी ओर आकर्पित नहीं कर सकते। मुझे

राज्यपाट मे कोई सुख नहीं, दुख भी नहीं। स्त्री पुत्रों में राग नहा द्वेष भी नहीं। मेरा कोई शत्रु नहीं मित्र नहीं। मैं उदासीन का भाति व्यवहार करता हूँ। कोई मेरे एक हाथ मे अग्नि दे दे। दूसरे हाथ मे कोमलाङ्गी स्त्री का अङ्ग, मेरे लिये दोनों समान हैं। ज्ञान होने पर चाहे कोई त्रिदण्ड धारण करे, राज्यपाट करे अथवा नौकरी करे सब समान हे। ज्ञान न होने पर चाहें सम्पूर्ण शरीर का गेरू से रग ले सैकड़ों त्रिदण्ड कमण्डलु धारण करले, उससे कोई लाभ नहा।"

कुछ लोग कहते हैं कि दण्ड धारण मात्र से ही नर नारायण हो जाता हे। यह केवल दण्ड की प्रशसा मात्र है, नहीं मुख्य तो ज्ञान है। ज्ञान होने पर त्रिदण्ड तथा छत्र का दण्ड सभी समान है। यह कहो, कि सब त्यागकर केवल कोपीन मात्र धारण करने से हा मोक्ष प्राप्त हो जाता हो, सो बात नहीं। त्याग का सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं, मन से है। मन से जिसने त्याग कर दिया है, वह राजाओं के से छत्र चँवर धारण करके भी त्यागी हो सकता है और जिसने मन से त्याग नहीं किया वह लँगोटी लगाकर भी त्यागी नहीं है।

यह बात तो नहीं कि मनुष्य जो कुछ मिल जाता हो, उसी का सग्रह करता हो। साँप बिच्छू, सिंह व्याघ्र का सग्रह कौन करता है। लोग इनसे दूर रहते हैं जिस वस्तु से जिसका काम चलता है उसी का वह सग्रह करता है। बहुत से साँप नचाकर आजीविका करने वाला का साँप से काम चलता है। वे सर्पों का सग्रह करते हैं। जिन फटे पुराने कपडों को हम फेंक देते हैं, कागद बनाने वाले उनका सग्रह करते हैं, क्योंकि उनसे उनका काम निकलता है। राजा छत्र चँवर, हाथी, घोड़ा, सेना, कोष, मन्त्री, भवन, सेवक आदि वस्तुओं का सग्रह करते हैं। सन्यासी

दंड, कमडलु, कथा, कोपीन, आदि का सग्रह करते हैं। सग्रह दोनों ही समान हे। यदि आसक्ति है तो साधुओं की कमडलु मे भी आसक्ति होती हे। उसमे भाँति-भाँति की कारीगरी कराते हैं, नित्य उसे चिकनाया करते है, देख देख रखते हैं, कोई उठा न ले जाय। कहीं अग्नि लगने पर उन्हे चिन्ता होती हे, हमारे दड कमन्डलु न जल जायँ। इसके विपरीत इतनी वस्तुओं का सग्रह करने पर भी मुझे इन वस्तुओं मे आसक्ति नही। सम्पूर्ण मिथिलापुरी जल जाय, मुझे इसमे कुछ भी दुख न होगा।

गेरुआ वस्त्र पहिनने से या मूड मुडाने से ही दुख दूर हो जायँ, तो बहुत से लोग गेरुआ पहने भी दुखी दिखाई देते हैं। भेड भी मूडी जाती है, यह पैसा न रखना ही दुःख निवृत्ति का कारण हो तो पशु-पक्षी तो पैसा नही रखते, वे कल के लिये सग्रह भी नहीं करते, इन सब को मुक्त हो जाना चाहिये। दरिद्र सभी जीवन्मुक्त हो जायँ। बाह्य त्याग और बाह्य सग्रह का ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। अकिञ्चन वेष बनाकर भी बन्धन हो हो सकता हे और धनादिक सग्रह करने पर भी वह जीवन्मुक्त हो सकता हे।"

जनक कह रहे हैं—"सुलभे! तुम पढी लिखी प्रतीत होती हो, तुम्हारे ओज, तेज, प्रभाव से मैं प्रभावित हुआ। मुझे तेरे ऊपर श्रद्धा हो गई हे, किन्तु यह रूप तेरे अनुरूप नहीं तू सुन्दरी है, सुकुमारी हे, युवती हे, तुझे शिष्टता का व्यवहार करना चाहिये। ऐसे अपना प्रभाव जताने के लिये किसी के शरीर मे प्रवेश न करना चाहिए।"

यह सुनकर सुलभा ने कहा—"राजन्! तुम्हारा कथन सत्य हे। फिर भी ज्ञानी के लिये वेष बन्धन का कारण नहीं। वह चाहे जैसा वेष बना सकता हे। आप अभी कह चुके है, बाह्य-

त्याग संग्रह ज्ञान मे कारण नहीं। फिर भी आप बार-बार अपने पक्ष की पुष्टि कर रहे हैं। राजन्! मैं बिना सोचे समझे तुम्हारे समीप नहीं आई हूँ। मैं तो मुमुक्षुओं को खोजती फिरती हूँ, जब मैंने सुना तुम ज्ञानी हो, ब्रह्मवेत्ता हो, केवल तुम्हारे कल्याण की भावना से तथा तुम्हारे मोक्ष ज्ञान को समझने के निमित्त ही मैं यहाँ आई हूँ। मैं वाद विवाद से सदा दूर रहती हूँ। जैसे शारीरिक बल वाले मल्ल, दूसरे को जीतने के लिये परस्पर में लड़ते हैं, उस प्रकार ज्ञानियों का वाद विवाद नहीं होता है। जो स्वपक्ष का मंडन करने के निमित्त जो भी मन में आता है, अट-सट बातें बताते हैं, वितंडा वात करते हैं। वे यथार्थ ज्ञानी नहीं। शब्दों पर ही लड़ते हैं, बाल की ख्याल निकालते हैं, ऐसे शाब्दिक ज्ञानियों से परमार्थ बहुत दूर है।

ज्ञानी तो वाद-विवाद से बचकर मौन धारण करता है। वह तो निजानन्द मे मग्न रहता है। उसे जय पराजय से क्या काम, मैंने तुम्हारे ज्ञान की थाह पाली। सन्यासी किसी नगर में जाता है, तो किसी शून्य गृह में निर्जन स्थान मे एक रात्रि निवास करता है, दूसरे दिन फिर अन्यत्र चला जाता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे शरीर रूपी घर में आज की रात्रि निवास करके चली जाऊँगी। राजन्! सौभाग्य की बात है, कि आप राज्य-पाट में लगे रहने पर भी संसारी भोगों से विरक्त हैं। प्रपंच मे रहते हुए भी निष्प्रपञ्च हैं। यह आपके कुल के अनुरूप ही है। आपके सभी पूर्वज विदेह ज्ञानी और जीवन्मुक्त हुए हैं। आप भी उन्हीं की भाँति हैं, आपने मेरा आदर सत्कार किया, इतने देर सत्संग किया, इन बातो से मैं सन्तुष्ट हूँ। आपका कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुलभा की बात सुनकर धर्म-

ध्वज ने उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार राजा से सत्कृत होकर और एक रात्रि निवास करके सुलभा यथेष्ट स्थान को चली गई। यह मैंने प्रसंगवश महाराज जनक और सुलभा का सम्वाद सुनाया। अब आप धर्मध्वज से आगे के जनक वंशीय राजाओं के वंश का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

भये योगिनी सग जनक नृपके प्रश्नोत्तर।
योग ज्ञान अध्यात्मयुक्त सुन्दर अति सुखकर॥
दोनों ज्ञानी परमज्ञान की गग बहाई।
जनक त्याग तप तेज निरखि सलभा हरषाई॥
स्वय तरे तारे बहुत, द्वै तिनके अनुरूप सुत।
भये कृतध्वज प्रथम नृप, द्वितिय मितध्वज योगयुत॥

महाराज केशिध्वज और खाण्डिक्य

[७१४]

कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् ।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १३ अ० २० श्लो०)

छप्पय

पुत्र कृतध्वजमाँहि भये केशिध्वज ज्ञानी।
नृप मितध्वज तनय भये खाण्डिक्य अमानी॥
केशिध्वज अध्यात्म ज्ञानमहँ विदित दिवाकर।
कर्म तत्व परवीन नृपति खाण्डिक्य उजागर॥
क्षत्रिय धर्म कठोर अति, समर उभयदल महँ भयो।
हार्यो लघु खाण्डिक्य नृप, डरिकें वनमहँ भागि गयो॥

गुणग्राहिता एक ऐसा गुण है, कि वह सब में नहीं होता। जिसमें गुण ग्रहण करने की प्रवृत्ति होगी वह संसार में किसी से द्वेष न करेगा। हम द्वेष क्यों करते हैं? अज्ञानवश जब हम असत् वस्तु को सत् समझकर इसमें मिथ्याभिनिवेश कर लेते हैं, तभी किसी को शत्रु मान लेते हैं किसी को मित्र। जिसके प्रति

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज जनक के कृतध्वज और मितध्वज दो पुत्र थे। जिनमें कृतध्वज के पुत्र केशिध्वज हुए और मितध्वज के पुत्र हुए खाण्डिक्य। इनमें केशिध्वज आत्मविद्या विशारद थे।"

हमारे मन में शत्रुता हो जाती है, तो उसके गुण भी दोष ही दिखाई देने लगते हैं, द्वेषवश हम उसके शुभ कार्यों में भी सम्मिलित नहीं होते। हमारी चाहे कितनी भी हानि क्यों न हो जाय, उसके समीप जाते भी नहीं किन्तु जो गुण ग्राही हैं उनकी पहले तो किसी से शत्रुता होती ही नहीं। फिर भी कर्तव्य वश किसी से शत्रुता हो भी जाय तो उनके मन में कोई भाव नहीं रहता। अवसर आने पर वे शत्रुता को भूल जाते हैं। मूर्खों की शत्रुता तो पत्थर की लीक के समान होती है, जो कभी मिटती नहीं। किन्तु ज्ञानियों की शत्रुता बालू की लकीर के समान है, कि जहाँ वायु आई फिर मिट कर ज्यों की त्यों हो गई। संसार में रहने से ज्ञानी हो अज्ञानी हो मित्रता शत्रुता तो प्रायः अपने संसर्गियों से हो ही जाती है, किन्तु ज्ञानी के हृदय पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। अज्ञानी रागद्वेष के कारण दुखी होता है, इतना ही ज्ञानी के व्यवहार में अन्तर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपको जनक वंशीय महाराज धर्मध्वज और योगिनी सुलभा का संक्षिप्त सम्वाद सुनाया अब आप धर्मध्वज से आगे जनक वंशीय मैथिल राजाओं के वंश का वर्णन श्रवण कीजिये।

महाराज धर्मध्वज जनक के दो पुत्र हुए कृतध्वज जनक दूसरे मितध्वज जनक, कृतध्वज के पुत्र हुए केशिध्वज जनक, और मितध्वज जनक के पुत्र हुए खाण्डिक्य जनक, इन दोनों भाइयों का बड़ा ही आध्यात्म्य सम्बन्धी सुन्दर सम्वाद है, जिसमें परमार्थ का बड़ा ही सरलता से निरूपण किया गया।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी हमें महाराज केशिध्वज जनक और राजर्षि खाण्डिक्य जनक के सुखद सम्वाद को अवश्य सुनावें। उसे सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है, यह आध्यात्म्य

सम्बन्धी चर्चा है बड़ी गूढ़, किन्तु इन जनकवंशीय राजाओं के आख्यान तो गूढ़ ज्ञान से ही ओत-प्रोत रहते हैं। इनमें आध्यात्म्य जैसे नीरस विषय को बड़ी सरसता और सरलता के साथ समझाया जाता है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यहाँ मैं आध्यात्म्य चर्चा तो कर ही नहीं रहा हूँ, यहाँ तो मैं सरल-सरल शिक्षाप्रद कथाओं को प्रसिद्ध पुरुषों के आख्यान को सुना रहा हूँ। इसलिये इस विषय का विस्तार न करके मैं प्रसङ्ग वश सम्वाद को संक्षेप में ही सुनाऊँगा। यह केशिध्वज और खाण्डिक्य का सम्वाद बड़ा ही शिक्षाप्रद, रोचक और आध्यात्मिक भावों से भरा हुआ है। अच्छी बात है, सुनिये मैं इस पुण्य प्रसङ्ग को सुनाता हूँ।

महाराज कृतध्वज के पुत्र केशिध्वज हुए। ये परम ज्ञानी थे। ऋषि मुनि इनसे परमार्थ सम्बन्धी प्रश्न पूछने आते थे और अनेक प्रकार की शंकायें किया करते थे। उन सब का यथोचित उत्तर देते, सभी शंकाओं का समाधान करते। इनके चाचा मितध्वज के पुत्र खाण्डिक्य भी ज्ञानी तो थे ही किन्तु ये कर्मकाण्ड के विशेष ज्ञाता थे कर्मकाण्ड के विषय में उनकी सर्वत्र ख्याति थी। कर्मकाण्ड सम्बन्धी जो भी बड़ी से बड़ी शंका होती उसका ये समाधान करते। इनका भी केशिध्वज से पृथक् अपना छोटा सा राज्य था, उसमें सुखपूर्वक रहकर यज्ञ किया करते थे।

क्षत्रिय धर्म ऐसा क्रूर है, कि इसमें बाप की बेटे के साथ, भाई की भाई के साथ सम्बन्धी की सम्बन्धी के साथ लड़ाई हो जाती है। कोई भी क्षत्रीय किसी भी क्षत्रीय को अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिये ललकारे तो कोई भी आत्माभिमानी क्षत्रिय कुमार युद्ध से पराङ्मुख न होगा। उस युद्ध का अभिनन्दन करेगा और प्राणों का प्रण लगाकर समर भूमि में उतर पड़ेगा। इसी प्रकार

किसी कारण से केशिध्वज और खाण्डिक्य का भी युद्ध हुआ। दोनों ही शूरवीर थे क्षत्रिय कुमार थे, भाई भाई थे। बहुत देर तक युद्ध होता रहा, अन्त में विजय केशिध्वज की हुई। खाण्डिक्य पराजित होकर अपने मन्त्री पुरोहित तथा कुछ सेवकों को साथ लेकर वन को चला गया और वन में अपना एक छोटा सा किला बनाकर और आस पास के गाँवों पर अधिकार जमाकर छोटा-सा राज्य स्थापित करके रहने लगा। इधर केशिध्वज ने खाण्डिक्य के राज्य पर अधिकार जमा लिया और सुख पूर्वक राज्य करने लगा।

ज्ञानी पुरुष भी आसक्ति छोड़कर निष्काम भाव से लोक संग्रहणार्थ यज्ञ यागादि पुण्य कर्म करते ही रहते हैं। यह न करें तो काल क्षेप कैसे हो। यज्ञ, दान, तप ये तो मनुष्य को पावन बनाने वाले हैं इनका तो कभी परित्याग करना ही न चाहिये। इसी भाव से आत्मविद्या विशारद महाराज केशिध्वज सदा यज्ञ याग आदि पुण्य कार्यों में लगे ही रहते थे।

एक बार उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ कराया। बड़े-बड़े कर्म काण्डी ऋषि मुनि उस यज्ञ को करने के लिये बुलाये गये। संयोग की बात कि जिस धेनु के दूध से यज्ञीय कर्म सम्पन्न होते थे, वह यज्ञीय धेनु किसी सिंह ने विजन वन में रक्षकों की असावधानी के कारण मार डाली। यह तो यज्ञ में बड़ा भारी विघ्न था अब यज्ञ कैसे हो, क्या प्रायश्चित्त इसके लिये किया जाय। यज्ञ में यज्ञीय धेनु का नष्ट हो जाना यह तो बड़ा भारी पाप है, यज्ञ में महान् अन्तराय है। राजा बड़े चिन्तित हुए, उन्होंने अपने ऋत्विजों से इसका प्रायश्चित पूछा।

ऋत्विजों ने सरलता के साथ निष्कपट भाव से कहा—"राजन्! हम इसका यथार्थ प्रायश्चित्त नहीं बता सकते। आज

कल महर्षि कशेरु कर्मकाण्ड मे प्रसिद्ध हैं। विशेषकर प्रायश्चित विधान मे तो उनको अव्याहत गति है, उनका समाधान भगवान कशेरु ही कर सकते हैं। आप उनको शरण में जायँ, वे आपको इसका यथोचित प्रायश्चित बतावेंगे।"

यह सुनकर महाराज केशिध्वज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ऋत्विजो की सम्मति को शिरोधार्य किया और महर्षि कशेरु के समीप प्रायश्चित्त पूछने गये। प्रणाम और शिष्टाचार के अनन्तर राजा ने सब वृत्तान्त बतलाया, किस तरह उनकी यज्ञीय धेनु शार्दूल द्वारा मारी गई, किस प्रकार ऋत्विजों ने, पूछने पर मुझे आपकी सेवा मे भेजा। ये सब बातें बताकर अन्त में उसका प्रायश्चित जानना चाहा।

सब बातें सुनकर महर्षि कशेरु बोले—"राजन्! यह विषय बड़ा गूढ़ है। अब मैं यह निर्णय नहीं कर सका, कि यज्ञीय धेनु के वध हो जाने पर तुम प्रायश्चित करके फिर इसी दीक्षा से यज्ञ कर सकते हो या तुम्हें पुनः दीक्षा लेनी होगी आप एक काम करें इस विषय को जाकर भृगु वंशीय महर्षि शुनक से पूछिये। महर्षि शुनक मुझसे भी अधिक इस विषय के ज्ञाता हैं।"

सूतजी कहते है—"शौनकजी, आपके पिता भगवान् शुनक कर्मकाण्ड मे अद्वितीय थे। जिस शंका का कहीं भी समाधान न हो, वह आपके पूज्य पिताजी के समीप जाकर होता था। कशेरु मुनि की बात सुनकर तथा उनको प्रणाम करके राजा आपके पिता भगवान् शुनक के समीप गये।

भृगुवंशीय भगवान् शुनक ने राजा का सत्कार किया और आने का कारण पूछा। राजा ने विनय प्रदर्शित करते हुए हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन्! मेरे यज्ञ की यज्ञीय धेनु का अरण्य में शार्दूल ने वध कर दिया है। उसका प्रायश्चित्त मेरे ऋत्विज नहीं

बता सके। उन्होंने मुझे महर्षि करोरु के समीप भेजा कि वे आप को यथार्थ प्रायश्चित्त बतावेंगे। जब मैं उन सत्यवादी ऋषि के समीप पहुँचा तो उन्होंने बिना छल कपट के कह दिया—"भैया, मैं भी इसका यथार्थ प्रायश्चित्त नहीं जानता तुम भगवान शुनक की सेवा मे जाओ। वे तुम्हे इसका शास्त्रीय प्रायश्चित बतावेंगे। इसीलिये मै भगवान् के चरणों मे उपस्थित हुआ हूँ।"

यह सुनकर सर्वज्ञ शुनक बोले—राजन्! इसका प्रयश्चित्त न आपके ऋत्विज जानते हैं न करोरु मुनि ही जानते हैं और न मैं ही जानता हूँ, पृथ्वी पर एक ही आदमी जानता है। उसके पास तुम सम्भव है जाओ न जाओ।"

शीघ्रता के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप जेसे सर्वज्ञ जिस विषय को नहीं जानते उसे जानने वाला पृथ्वी पर दूसरा कौन है। आप मुझे उनका नाम बताइये मैं अवश्य ही उनकी सेवा में जाऊँगा।"

इस पर भगवान् शुनक बोले—"राजन्! इस विषय के ज्ञाता आपके शत्रु खाण्डिक्य राजर्षि हैं। आपने उन्हे परास्त किया है आप उनके पास जायँगे या नहीं, इसे मैं नहीं जानता।"

राजा ने दृढ़ता के स्वर मे कहा—"ब्रह्मन्! मैं अवश्य उनके पास जाऊँगा युद्धादि तो क्षत्रिय धर्म है, इस समय तो मैं गुरु के भाव से उनके समीप जाऊँगा। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझ कर मार डालेंगे, तब तो मेरा प्रायश्चित्त स्वतः ही हो जायगा। मैं यज्ञ मे दीक्षित हूँ मैं तो शस्त्र उठाऊगा नहीं। उनके हाथ से मरने से प्रायश्चित हो ही जायगा। यदि उन्होंने धर्म समझकर मेरे पूछने पर यथायोग्य प्रायश्चित्त बता दिया, तो उसे करने से मेरा यज्ञ अविफल समाप्त हो जायगा। मेरे तो दोनो हाथों मे लड्डू है। भाई खाण्डिक्य के समीप जाने में मेरा कल्याण ही है।

यह सुनकर भगवान् शुनक ने कहा—"राजन् ! आप राजर्षि खाण्डिक्य के समीप जायँ, आपका कल्याण होगा।"

यह सुनकर मुनि के चरणों मे प्रणाम करके महाराज केशिध्वज रथ पर चढ़कर खाण्डिक्य के समीप चल दिये। वे यज्ञ में दीक्षित होने के कारण कृष्णमृग के चर्म को ओढ़े हुए थे। हाथ मे मृग का सींग और कुशाओं का मूठा था, वे मूर्तिमान् तप ही प्रतीत होते थे, अस्त्र शस्त्रों का उन्होंने त्याग कर रखा था। उन्हें अपनी ही ओर आते देखकर महाराज खाण्डिक्य को क्रोध आ गया। वे सोचने लगे—"मैं यहाँ राज्य पाट छोड़कर वन मे आ बसा हूँ, यहाँ भी इसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अच्छी बात है मैं भी इससे युद्ध करूँगा।" यह सोचकर वे धनुष बाण तान कर खड़े हो गये।"

खाण्डिक्य को युद्ध के लिये उद्यत देखकर केशिध्वज ने कहा—"भाई ! मैं युद्ध करने के लिये तो आया नहीं। क्या तुम मेरे मृग-चर्म में बाण मरोगे ?"

इस पर खाण्डिक्य ने कहा—"राजन ! आप मेरे शत्रु हैं। शत्रु का वध करना क्षत्रिय का परम धर्म है। आप जो यह तपस्वियों का वनावटी वेष बनाकर इस आशा से आये हो, कि मृगचर्म को देखकर मैं बाण न छोड़ूँगा, सो यह आपका भ्रम है। क्या मृगों की पीठ पर मृगचर्म नहीं होता ? क्या मृगया प्रेमी क्षत्रिय उन पर बाण नहीं छोड़ते। शत्रु तो शत्रु ही है, चाहे वह जैसा भी वेष बनाकर सम्मुख आवे। मैं तुम्हें बिना मारे छोड़ूँगा नहीं।

केशिध्वज ने कहा—"भाई देखो ! मैं यज्ञ कर रहा था। मेरी यज्ञीय धेनु का वध वन में एक सिंह ने कर दिया। उसी का प्रायश्चित्त पूछने में आपकी शरण में अस्त्र-शस्त्रों से रहित होकर

आया हूँ। अब आपकी इच्छा है, चाहे तो मुझे एकान्त समझ कर मार डालें अथवा मेरे प्रश्न का समुचित उत्तर दें।"

इतना सुनते ही खाण्डिक्य ने धनुष से बाण उतार लिया, वे अपने मंत्री पुरोहितों को लेकर एकान्त मे भीतर गये, उनसे उन्होंने सम्मति ली कि इस समय मुझे क्या करना चाहिये।

राजा की बात सुनकर मंत्रियों ने कहा—"महाराज! ऐसे स्वर्ण अवसर को कभी भी हाथ से न जाने देना चाहिये। जिसके कारण हम राज्य पाट से हीन होकर वन-वन में भटक रहे हैं, वह शत्रु स्वतः ही हमारे अधिकार में आ गया है, वश मे आये हुए शत्रु को जीवित छोड़ देना बुद्धिमानी का काम नहीं। आप इस शत्रु को सुलभता से जीतकर इस सम्पूर्ण पृथ्वी का निष्कंटक राज्य कर सकते हैं।"

यह सुनकर खाण्डिक्य बोले—"आप लोगों ने सत्य ही कहा शत्रु को वश में आने पर अवश्य ही मार देना चाहिये। राजा का धर्म राज्य का पालन करना ही है, कितने ही यत्न से राज्य मिले राजा को अपने गये हुए राज्य को लौटा लेना चाहिये। यदि आस-पास ही बिना श्रम के राज्य मिलता तो फिर कहना ही क्या बुद्धिमान राजा को ऐसे अवसर को कभी भी हाथ से न जाने देना चाहिये।"

यह सुनकर राजर्षि खाण्डिक्य जनक ने कहा—आप लोगो का कहना सत्य है! आततायी शत्रु का बध कर देना धर्म संगत है। किन्तु इस समय ये मेरे भाई शत्रुता के भाव से तो आये ही नहीं। ये तो जिज्ञासु बनकर आये हैं। इस समय यदि मैं इन्हे मार दूँगा तो मुझे पृथ्वी का निष्कंटक राज्य तो अवश्य मिल जायगा, किन्तु मेरा परलोक नष्ट हो जायेगा, इसका परलोक बन जायगा। यदि मैं राज्य के लोभ को छोड़कर इसके प्रश्नों का

उत्तर दूँ तो मैं राज्य से भले ही वञ्चित रहूँ, किन्तु मेरा परलोक बन जायगा, इस लोक के तुच्छ सुखों की अपेक्षा परलोक सम्बन्धी सुख सर्वश्रेष्ठ है। मैं पृथ्वी के तुच्छ राज्य के पीछे परलोक को विगाड़ना नहीं चाहता। इसलिये मैं तो द्वेष छोड़कर यह जो भी पूछेगा उसका उत्तर दूँगा।" यह कहकर वे लौटकर केशिध्वज के समीप आये और बोले—"कहिये राजन्! आप क्या पूछना चाहते हैं ?"

केशिध्वज ने खाण्डिक्य के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए नम्रता के साथ कहा—"भाई! मैं यज्ञ कर रहा था, इसी बीच में यज्ञीय धर्मधेनु को सिंह ने मार डाला इसका प्रायश्चित न मेरे ऋत्विज बता सके, न महर्षि कशेरु बता सके और न महामुनि शुनक ही बता सके। उन्होंने मुझे आपके समीप भेजा है, आप इसका जो उचित समझें वह प्रायश्चित बतावें। जिससे मेरा यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सविधि निर्विघ्न समाप्त हो सके।

यह सुनकर खाण्डिक्य ने शास्त्रीय विधि से इसका प्रायश्चित्त बताया। प्रायश्चित्त जानकर महाराज केशिध्वज को परम प्रसन्नता प्राप्त हुई वे खाण्डिक्य के प्रति आदर प्रकट करके अपने यज्ञ में लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने खाण्डिक्य के आदेशानुसार ब्राह्मणों की अनुमति से प्रायश्चित्त किया फिर विधि विधान पूर्वक यज्ञ का सब कृत्य किया। उन्होंने दान से मान से सभी को सन्तुष्ट किया, ब्राह्मणों को यथेष्ट दक्षिणा दी। जिसने जो माँगा उसे वही दिया, याज्ञिकों का मनोरथ पूर्ण किया, ऋत्विज अत्यन्त सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देते हुए गये। फिर भी राजा के मन में पूर्ण शान्ति नहीं हुई, उन्हें ऐसा लगा मानो कोई कृत्य शेष रह गया। उनके मनको पूर्ण सतोष हुआ नहीं। वे सोचने लगे—"मेरा मन पूर्ण सतुष्ट क्यों नहीं होता, यज्ञ को तो मैंने विधिवत् समाप्त

किया है। यज्ञ मे आये सभी का सत्कार किया है। कौन सी त्रुटि रह गई जिससे मेरा मानस असम्पन्न की भाँति होता है, सोचते-सोचते उन्हे ध्यान आया—"अरे, जिन खाण्डिक्य की कृपा से मेरा यह यज्ञ साङ्गोपाङ्ग समाप्त हुआ। उन्हे मैंने गुरु दक्षिणा तो दी ही नहीं। गुरु दक्षिणा बिना सभी कृत्य अधूरे रह जाते हैं। मुझे सर्व प्रथम जाकर राजर्षि खाण्डिक्य को यथेष्ट मुँह माँगी दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करना चाहिए उन्हे सन्तुष्ट करने पर ही मुझे सन्तोष होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा विचार करके महाराज केशिध्वज अपने सुन्दर रथ पर चढकर राजर्षि खाण्डिक्य के आश्रम की ओर चल दिये।

छप्पय

इत केशिध्वज करयो यज्ञ इक अतिशय भारी।
सिह यज्ञ की धेनु खाइ सब बात बिगारी॥
पूछो प्रायश्चित्त सबनि खाण्डिक्य बताये।
तिन ढिँग भूपति गये वृत्त सब तिनहिँ सुनाये॥
प्रायश्चित्त सुन्यो जनक, आई करयो विधीवत सकल।
सोच्यो गुरु खाण्डिक्यकूँ, दई दक्षिणा नहिँ विपुल॥

केशिध्वज द्वारा खाण्डिक्य को ज्ञान दान

(७१५)

खाण्डिक्यःकर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद् द्रुतः।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

दैन दक्षिणा गये न याच्यो राज कोस धन।
कह्यो दक्षिणा देहु असत् सत् समुझे कस मन॥
हँसि केशिध्वज कह्यो लाभ जग तुमही पायो।
समुझि विषय विष सरिस न तिनमहँ चित्त फँसायो॥
देही देह पृथक् सतत, सुनहु ज्ञान परमार्थ युत।
देही नित्य अनित्य तनु, तत्सम्बन्धी गेह सुत॥

ये सांसारिक भोग अनित्य हैं, नाशवान् हैं, क्षणभंगुर हैं, आगमापायी हैं अशाश्वत हैं तथा परिणाम में दु:ख देने वाले हैं। विद्वान् पुरुष इनके मोह में नहीं फँसते। जो इस शरीर को ही सब कुछ समझे बैठे हैं, वे न्याय से अन्याय से उचित उपायों से अनुचित उपायों से जैसे भी हो तैसे विषयों के साधनभूत धन

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! खाण्डिक्य कर्मकाण्ड के तत्त्व को जानने वाले थे। अपने भाई केशिध्वज से डरकर वन में भाग गये। केशिध्वज के पुत्र भानुमान् हुए, और भानुमान् के पुत्र शतद्युम्न हुए।

आदि को ही प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं। उन्हें परमार्थ परमात्मा आदि से कोई प्रयोजन नहीं। पैसा प्राप्त हो, प्रतिष्ठा हो और यह शरीर सुख से रहे, यही उनकी अभिलाषा रहती है। मैं और मेरा यही उनका मूल-मंत्र है। मैं सुखी रहूँ मेरा वैभव बढ़े यही उनके जीवन का ध्येय है। वे नरपशु आहार, निद्रा मैथुनादि को ही सर्वोत्कृष्ट सुख समझकर उन्हें ही पाने के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। वे बार-बार जन्मते हैं बार-बार मरते हैं। वे आवागमन के चक्कर से छूटते नहीं। इसके विपरीत जो इन नाशवान् पदार्थों को कुछ भी न समझकर परमार्थ चिन्तन में समय बिताते हैं। वे अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं। जन्म मरण के बन्धन से सदा के लिये विमुक्त हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! खाण्डिक्य जनक के आदेशानुसार केशिध्वज जनक अपने यज्ञ को विधिवत् समाप्त करके, गुरुदक्षिणा देने के निमित्त पुनः गहन वन में खाण्डिक्य के समीप गये। अबके पुनः केशिध्वज को रथ में आते देखकर खाण्डिक्य को पुनः शंका हुई। वे अस्त्र-शस्त्र लेकर अपने शत्रु से पुनः युद्ध करने के लिये उद्यत हुए।

खाण्डिक्य को युद्ध के लिये उद्यत देखकर हँसते हुए राजर्षि केशिध्वज बोले—"राजन् ! मैं युद्ध करने आपके समीप नहीं आया हूँ। आपकी कृपा से मेरा यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सकुशल सविधि समाप्त हो गया। अब मैं गुरुदक्षिणा देने के निमित्त आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। आप मुझसे यथेच्छ दक्षिणा माँग लें।"

यह सुनकर खाण्डिक्य अपने मन्त्रियों को लेकर एकान्त में गया और उनसे पूछने लगा—"ये महाराज केशिध्वज जो मेरे भाई हैं, जिन्होंने युद्ध में मुझे परास्त करके मेरा राज्यपाट

छीन लिया है, मुझसे यथेच्छ दक्षिणा माँगने को कह रहे हैं, इनसे क्या दक्षिणा माँगनी चाहिये।"

मन्त्रियों ने कहा—"महाराज! इसमें भी कुछ पूछने की बात है। आप इनसे दक्षिणा में सम्पूर्ण राज्य माँग लें। राज्य के लिये कितने भारी-भारी युद्ध होते हैं। असख्यों वीर मारे जाते हैं। राज्य के लिये उचित अनुचित सभी कार्य किये जाते हैं। अन्याय से भी क्षत्रिय को राज्य मिले तो उसे ले लेना चाहिये, फिर आप को तो घर बैठे विना आयास-प्रयास के, विना युद्ध के स्वतः ही राज्य मिल रहा है। ऐसे अवसर पर कोई भी बुद्धिमान् राज्य की अवहेलना न करेगा।"

यह सुनकर राजर्षि खाण्डिक्य हँसे और वोले—"आप लोग लौकिक अर्थ साधन में ही निपुण मत्री हो। पारलौकिक स्वार्थ साधन में तुम सर्वथा अनभिज्ञ हो। अरे, मुझ जैसा व्यक्ति गुरु दक्षिणा में ऐसी क्षुद्र वस्तु की याचना कर सकता है। राज्य पाट तो अनित्य है। वह तो प्रारब्ध से आता जाता ही रहता है। क्या मैं पहिले राजा नहीं था। अब यदि मैं राज्य माँग भी लूँ तो कितने दिन सुख भोगूँगा। अन्त में तो सबको यहीं छोड़कर मर जाऊँगा। मैं इन अपने ब्रह्मज्ञानी भाई से ऐसी वस्तु क्यों न माँग लूँ, जिससे सदा के लिये जन्म मरण का चक्कर छूट जाय। संसार का आवागमन ही मिट जाय।"

मंत्रियों ने यह सुनकर संकोच के साथ कहा—"जैसी महाराज की इच्छा। हमने तो अपनी बुद्धि के ही अनुसार सम्मति दी है। करने न करने में आप सर्वथा समर्थ हैं। यह सुनकर खाण्डिक्य, केशिध्वज के समीप गये, उनका अभिनंदन किया और स्नेहपूर्वक बोले—"क्या आप यथार्थ में मुझे मुँहमाँगी दक्षिणा देना चाहते हैं?"

केशिध्वज ने कहा—"भाई ! मैं तो दक्षिणा देने के लिये ही यहाँ आया हूँ। आज आप जो भी माँगेंगे वही मैं गुरुदक्षिणा निश्चय दूँगा।"

यह सुनकर खाण्डिक्य बोले—"अच्छी बात है, यदि आप मुझे गुरुदक्षिणा देना ही चाहते हैं, तो मुझे उस कर्म का उपदेश दें जिससे समस्त क्लेशों का अत्यन्ताभाव हो जाय। आप अध्यात्म विज्ञान में पारङ्गत हैं। परमार्थ पथ के प्रदर्शक हैं, जिससे सत्पदार्थ का बोध हो वही उपदेश मुझे दें।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए केशिध्वज बोले—"अरे, तुमने यह क्या गुरुदक्षिणा माँगी। जब मैं तुम्हे यथेच्छ वस्तु देने ही आया हूँ, तो तुम समस्त पृथ्वी का निष्कन्टक राज्य माँग लेते। क्षत्रियों के लिये तो राज्य लाभ से बढकर दूसरा कोई लाभ ही नहीं। प्रजापालन से बढकर कोई पुण्यप्रद कार्य ही नहीं। राज्य मिलने पर आप यथेष्ट दान पुण्य करते। इष्ट मित्र बन्धु बान्धवों को सुख देते, स्वय सुखोपभोग करते। यह न माँग कर आपने यह क्या वस्तु माँग ली।"

इस पर दृढता के स्वर में खाण्डिक्य ने कहा—"भाई जी ! आप मुझे भुलावें नहीं, आप मेरी मुमुक्षुता की परीक्षा ले रहे हैं। नहीं तो क्या आप जानते नहीं राज्य पाकर प्राणी अहकारी हो जाता है। यह अहकार अत्यन्त ही मादक मधु है। इसे पान करके प्राणी जन्म मरण के चक्कर मे फँस जाता है। प्रजा का पालन रूप धर्म तो मैं कर ही रहा था। स्वेच्छा से मैंने उसे त्यागा भी नहीं। आपने युद्ध मे मेरा राज्यपाट–छीन लिया, अच्छा ही किया। मेरी जो भोगों मे लिप्सा थी, वह आपने छुडा दी। इतने दिन अरण्य मे रह कर क्लेश–सहते-सहते मे इन विषयों की क्षणभगुरता समझ गया। मुझे विषयों से-वैराग्य हो गया। मेरी

मोक्ष की इच्छा जाग्रत हो उठी। जिस मोह गर्त से भगवान् ने बल पूर्वक हाथ पकड कर निकाल दिया, उसी में जाकर फिर पड, फिर राज्यपाट के बन्धन में बँधू, फिर जन्म-मरण के चक्कर में फँसू यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है। अतः राजन्! मुझ जैसा व्यक्ति आप जस अध्यात्म विद्या विशारद को पाकर क्षुद्र सांसारिक भोगों की याचना किस प्रकार कर सकता है।"

यह सुनकर केशिध्वज ने कहा—"यथार्थ मे तुम अध्यात्म-ज्ञान के अधिकारी हो गये हो। मैं भी जो कुछ करता हूँ मृत्यु से तरने की कामना से ही करता हूँ। यज्ञ यागादि करके पापों का क्षय करता हूँ और भोगों को भोग कर पुण्यों का क्षय करता हूँ। जब पुण्य पाप दोनो से छूट जाता है, तभी जीव मुक्त हो जाता है। अविद्या ही संसृति का हेतु है।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"अविद्या क्या है?"

केशिध्वज ने कहा—"असत् में सत् बुद्धि तथा अनात्म में आत्मबुद्धि होना यही अविद्या का स्वरूप है। यह देह पचभूतों से बना हुआ अनित्य तथा नाशवान् है। अविनाशी तथा नित्यरूप देही भ्रम वश अज्ञान के कारण, माया के अधीन होकर इसे मान बैठा है। अज्ञानी इस देह को ही आत्मा मानते हैं। इसलिये जो भी कर्म प्राणी करता है, देह के सुख के लिये करता है। आत्मा तो सुख स्वरूप ही है, उसे भौतिक पदार्थों से सुख की अपेक्षा ही नहीं। यह देह ही पचभूतो से निर्मित है अतः पञ्चभौतिक विषयों के सुखों को चाहता है।"

खाण्डिक्य ने कहा—"जब देह पचभूतो से ही निर्मित है, तो उसे पचभूत क्या सुख देंगे।"

इस पर केशिध्वज ने कहा—"सुख तो क्या देंगे, यह एक प्रकार का भ्रम है। जैसे घर मिट्टी से ही बनाया जाता है, फिर

मिट्टी पानी लगाकर ही उसे लीपते पोतते हैं, स्वच्छ करते हैं। उसी प्रकार यह देह पृथ्वी से बना है, यह पार्थिव पदार्थ–अन्न, दूध, घृत, चीनी आदि-से पुष्ट होता है। अन्न जल से ही इसकी स्थिति है। जैसे घर से घर का स्वामी पृथक् होता है, वैसे ही देह से देही पृथक् होता है। घर वाला घर को बेचकर दूसरे घर में चला जाता है। घर बदलने पर घर का स्वामी नहीं बदलता। इसी प्रकार देह के नाश होने पर देही का नाश नहीं हुआ करता। पंचभूतों का बना देह, पंचभूतों से ही बढ़ता है, पुष्ट होता है, फिर इसमें अहंकार करने की कौन सी बात है, कि मैं मोटा हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं धनी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं जगत् पूज्य हूँ। आत्मदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा सर्वश्रेष्ठ है ही। देहदृष्टि से देखा जाय तो चाहे मोटा देह हो या पतला, सुरूप हो या कुरूप, गोरा हो या काला छोटा हो या बड़ा, सब प्रकार से नाशवान् है, अशाश्वत है। फिर इसमें मोह करना व्यर्थ है।"

खाण्डिक्य ने कहा—"जब देही देह से पृथक् है तो फिर प्राणी धन, जन पुत्र परिवार तथा देह में इतना आसक्त क्यों हो गया है।"

केशिध्वज ने कहा—"अनेक जन्मों के संस्कारों से निरन्तर कर्मवासनाओं के बन्धन में फँसा जीव संसार में भटकता रहता है, पुनः पुनः जन्म लेता है, पुनः पुनः मरता है, उसका तो न जन्म है न मरण। देह के उपचार से ही उसमें जन्म मरण की कल्पना की जाती है। वासना के मैल से अन्तःकरण रूप वस्त्र मैला हो गया है। अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत सा दिखाई देता है। जैसे नीहार के छा जाने से सूर्य ढका सा प्रतीत होता है। यह अन्तःकरण रूप मैला वस्त्र, ज्ञान रूप उष्ण वारि से अन्य साधन सामग्री के द्वारा युक्तिपूर्वक धोया जाता है, तो शुद्ध निर्मल बन जाता है।

इसी प्रकार आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध निर्मल और निरामय है ही। प्रकृति के संसर्ग में यह अपने को सुखी दुःखी मानने लगता है।

खाण्डिक्य ने पूछा—"तो यह बताइये दुःख अज्ञान, अथवा भ्रम आदि किसमें होते हैं; प्रकृति में या आत्मा में ?"

केशिध्वज ने शीघ्रता के साथ कहा—"आत्मा में तो दुःख अज्ञान भ्रम आदि संभव ही नहीं। ये सब तो प्रकृति के धर्म हैं। आत्मा तो इनसे सर्वथा निर्लिप्त है।"

इस पर खाण्डिक्य ने पूछा—"इन क्लेश कर्मों का नाश किस साधन के द्वारा हो, कृपया इसे भी बताइये।"

केशिध्वज ने कहा—"क्लेशों के नाश का एक मात्र साधन योग है। योग के बिना चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध होता नहीं। बिना चित्तवृत्ति-निरोध के स्व स्वरूप में अवस्थिति होती नहीं।"

यह सुनकर खाण्डिक्य ने कहा—"महाभाग ! उस योग का स्वरूप आप मुझसे बताइये।"

इस पर केशिध्वज ने कहा—"मन को वश में करने का ही नाम योग है। साधारणतया प्राणी मन के वश में होकर कर काम करता है। मन के हारे हार हैं मन के जीते जीत। बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयासक्त हुआ मन बन्धन का हेतु होता है, वही निर्विषय मन मुक्ति का कारण है। अशुद्ध मन ही जीव को चौरासी के चक्कर में घुमाता है। वही विशुद्ध बनकर ब्रह्म के साथ संयोग कराता है। उसी संयोग का नाम योग है। जो उस योग का साधन करता है, मुक्ति के लिये यत्न करता है; वही मुमुक्षु योगी कहाता है। योगी दो प्रकार के होते हैं। एक योगयुक्त, दूसरा युञ्जमान्; जिसकी समाधि सिद्ध हो गई है

वह तो योगयुक्त कहलाता है। जो योग के लिये यत्न कर रहा है और योग में अन्तराय आने से सिद्धि लाभ नहीं कर सका है; वह युञ्जमान कहलाता है। योगयुक्त योगी तो तत्क्षण मुक्त हो जाता है, किन्तु जिसके योग में अन्तराय हो गये हैं; वह जन्मान्तर में मुक्ति का भागी होता है। योगी के लिये सर्वप्रथम यम नियमों का पालन करना आवश्यक है।"

खाण्डिक्य ने पूछा--"यह यम नियम कितने हैं ?"

केशिध्वज बोले--"यम और नियम पाँच-पाँच हैं ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान; ये पाँच नियम हैं। इन यम नियमों का पालन विशिष्ट कामनाओं से किया, जाय तो उन-उन कामनाओं को पूर्ण करते हैं। यदि निष्काम भाव से पालन किया जाय तो ये ही मुक्ति देने वाले हो जाते हैं। इनमें से एक का भी निष्काम भाव से पालन करके मनुष्य मुक्त हो सकता है। यम नियम के पश्चात् आसन हैं ?"

खाण्डिक्य ने पूछा--"आसन कितने प्रकार के हैं ?"

इस पर केशिध्वज बोले--"भैया ! आसन तो असंख्यों हैं, जिसमें स्थिरता हो, घुटने दोनों भूमि में सट जायँ, मेरुदण्ड ठीक सीधा हो जाय, बैठने में सुख हो, वही बैठने के आसन हैं। योग-शास्त्र में ८४ आसन प्रसिद्ध हैं, इनके अतिरिक्त भी बहुत से आसन हैं, इनमें सिद्धासन, पद्मासन और सुखासन ये मुख्य हैं। इनमें से किसी आसन का अभ्यास करके उसी से बैठकर प्राणायाम करना चाहिये।"

खाण्डिक्य ने पूछा--"प्राणायाम क्या ?"

केशिध्वज बोले--"प्राणों के संयम का नाम प्राणायाम है। प्राण तो सदैव ही श्वासोच्छ्वासरूप में सदा आते जाते रहते हैं।

इन्हीं को अभ्यास से नियमन करना प्राणायाम कहाता है। वह पूरक, कुम्भक और रेचक तीन प्रकार का होता है। प्राणायाम के अनन्तर प्रत्याहार करना चाहिये।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"भाई जी ! प्रत्याहार किसे कहते हैं ?"

केशिध्वज बोले—"भागती हुई चित्त की वृत्तियों को पुनः पुनः समेटकर खींचकर भीतर की ही ओर लाना—वृत्तियों को बाह्य न होने देना—यही प्रत्याहार है। चित्त को शुभाश्रय में स्थित करना ही प्रत्याहार का प्रयोजन है।"

खाण्डिक्य ने पूछा—"भाई जी ! चित्त का शुभाश्रय क्या है ?"

केशिध्वज बोले—'चित्त के दो प्रकार के शुभाश्रय हैं। एक मूर्त दूसरा अमूर्त। अमूर्त भावना तो निराकार ब्रह्म की की जाती है और मूर्त भावना इस सम्पूर्ण विश्व को भगवान् का रूप मानकर करते हैं। जितना भी यह चराचर विश्व है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सरित्, समुद्र, आकाश, भूगोल, खगोल सब उन्हीं श्रीहरि का रूप है। सबकी उनके अगों मे भावना करनी चाहिये। भगवान् का जैसा रूप रुचिकर हो शास्त्रों मे जैसा उनका वर्णन किया गया है, उसमे चित्त को स्थिर करना चाहिये अन्तःकरण मे भगवान की स्थिति होते ही समस्त पापों का नाश हो जाता है। समस्त अशुभ भस्मसात हो जाते हैं। समस्त शक्ति को स्थिर करने का आधार चित्त ही है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पॉच बाह्यसाधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अतरङ्ग साधन हैं। चित्त मे जब भगवान् की भलीभाँति सस्थिति हो जाती है। चित्त उनके स्वरूप को धारण कर लेता है। उसे 'धारणा' कहते हैं। धारणा की सिद्ध को ही ध्यान कहते हैं। भगवान् के सुन्दर स्वरूप की नख से शिख तक ध्यान करना

चाहिए। पहिले एक-एक अंग का ध्यान करे। ललाट, नेत्र, नासिका, मुखारविन्द, हृदय, बाहु, वक्षःस्थल, नाभि, कटि, ऊरु, जानु, टखना, पाद, प्रपाद, पादतल इस प्रकार प्रत्येक अंग पर बहुत देर तक ध्यान करे। जब सब अंगों में ध्यान लग जाय, तब भगवान के समस्त अंगों का एक साथ ही ध्यान करे। ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। वह समाधि भी सबीज निर्बीज रूप से दो प्रकार की है। समाधि प्राप्त होने पर अशेष संक्लेश नाश हो जाते हैं। प्राणी परमानन्द में निमग्न हो जाता है। मुक्ति करतल में स्थित हो जाती है। जीव की स्व स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। यही अंतिम निष्ठा है; यही परागति है। समाधि सिद्धि मुनि कृतकृत्य हो जाता है। समाधि में स्थित योगी के समस्त संशय नाश हो जाते हैं। हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उसके शुभाशुभ सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में आत्मज्ञान के साधनभूत योग का उपदेश किया। तुम इसका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें स्वयं ही सब विषय ज्ञात होने लग जायँगे।"

यह सुनकर खाण्डिक्य ने केशिध्वज के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और अत्यन्त ही सत्कारपूर्वक बोले—"भाई जी! आपने मेरे समस्त संशयों का छेदन कर दिया। आपने मुझे अभूत पूर्व अमूल्य दक्षिणा दे दी। मैं सन्तुष्ट हूँ। आपने मुझे अध्यात्म उपदेश देकर कृतार्थ कर दिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! केशिध्वज से उपदेश पाकर खाण्डिक्य कृतार्थ हो गये। उन्होंने केशिध्वज की पूजा की। केशिध्वज ने खाण्डिक्य का समस्त राज्य लौटा दिया। खाण्डिक्य भी अपने राज्य पर अपने पुत्र को बिठाकर योग साधन करने के निमित्त वन में चले गये।

केशिध्वज भी समस्त कर्मों को निष्काम भाव से करते हुए अन्त में परमपद को प्राप्त हुए। केशिध्वज के पश्चात् उनके पुत्र भानुमान राजा हुए।"

छप्पय

यों दीयो बहु ग्यान भये कृतकृत्य जनक जब।
कीयो बहु सत्कार गये केशिध्वज गृह तब॥
करन योग खाण्डिक्य गये वन भूपति करि सुत।
केशिध्वज हू क्लेश कर्म तजि भये योगयुत॥
जग महं जीवन मुक्त नृप, केशिध्वज हू है गये।
तिनके पीछे तनय तिनि, भानुमान भूपति भये॥

जनक-वंशीय शेष राजा

(७१६)

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः ।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

पीढ़ी सत्ताईसमाँहि अंतिम मैथिल कृति ।
भये जनक कुलमाहिं परम ज्ञानी सब भूपति ॥
ऋषि मुनि नित प्रति आइ करहिं सत्सङ्ग सदाहीं ।
या कुल कोई कृपण अज्ञ नृप प्रकट्यो नाहीं ॥
शुक सम त्यागी जनक ढिँग, परमारथ सीखन निमित ।
आये तिनिके शुभ चरित, करहिं सतत संसार हित ॥

व्यक्ति की पूजा उसके गुणों से होती है। रूप, धन, ऐश्वर्य, कुल आदि से क्षणिक प्रतिष्ठा भले ही हो जाय, किन्तु आदर भाव गुणों के ही द्वारा होता है। अपने पास कोई किसी वस्तु की याचना के निमित्त आवे, उसकी इच्छा पूर्ण करना सबसे बड़ा शुभ कार्य है, किन्तु सांसारिक इच्छा पूर्ति से भी बढ़कर सर्वश्रेष्ठ कार्य है अभय दान। यह प्राणी मृत्यु के भय से भयभीत हुआ

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! मैंने जो इतने मैथिल राजाओं का वर्णन किया है, ये सब के सब आत्मविद्या में विशारद थे। योगेश्वरों की कृपा से ये सब घर में रहते हुए भी सभी प्रकार के द्वन्द्वों से निर्मुक्त थे।"

इधर-उधर भटकता रहता है। मृत्यु का भय अज्ञान से होता है, जो इस अज्ञान को मेटकर ज्ञान दान देता है, वही सच्चा दानी है। जिस कुल में, जिस वंश में ऐसे ज्ञानी हो गये हैं, वह कुल धन्य है, वह वंश सर्वश्रेष्ठ है। उस वंश में उत्पन्न होने वाले सभी पुरुष पूजनीय हैं, आदरणीय हैं और श्लाघनीय हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं जनकवंशीय राजाओं के वंश का वर्णन कर रहा था, प्रसङ्ग वश महाराज केशिध्वज और खाण्डिक्य का संक्षिप्त आध्यात्मिक सम्वाद मैंने सुनाया; अब आप महाराज केशिध्वज के पुत्र भानुमान् से आगे के राजाओं का वर्णन सुनें। केशिध्वज तनय भानुमान् के पुत्र शतद्युम्न हुए। उनके शुचि, शुचि के सनद्वाज और सनद्वाज के सुत ऊर्ध्वकेतु हुए। ऊर्ध्वकेतु के अज, अज के पुरुजित, उनके अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमि के श्रुतायु, श्रुतायु के सुपार्श्वक, सुपार्श्वक के चित्ररथ, उनके क्षेमधि, क्षेमधि के समरथ, समरथ के सत्यरथ, उनके उपगुरु और उपगुरु के उपगुप्त पुत्र हुए जो अग्नि के अंश माने जाते हैं। उपगुप्त के वस्वनन्त और वस्वनन्त के युयुध हुए। युयुध के सुभाषण सुभाषण के श्रुत, श्रुत के जय और जय के विजय पुत्र हुए। विजय के ऋत और ऋत के शुनक हुए। शुनक के सुत वीतहव्य और वीतहव्य के धृति, धृति के बहुलाश्व और बहुलाश्व के कृति नामक महाबली पुत्र हुए। महाराज कृति ही जनक वंश के अंतिम राजा हुए। कृति से आगे जनक वंश समाप्त हो गया।

ये सबके सब राजा जनक कहलाते थे। उपनिषदों में याज्ञवल्क्य और जनक सम्वाद बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ भी अध्यात्म्य संवाद की चर्चा है; वहाँ जनक और दूसरे ज्ञानी मुमुक्षुओं का ही संवाद है। जनक शब्द ही ज्ञानी के लिये व्यवहृत होने लगा है। किसी की प्रशंसा करते हुए या व्यङ्ग करते

हुए लोग कहते हैं—"वे तो जनक ही हो गये हैं। राजर्षि जनक के सम्बन्ध की इतिहास पुराणों में बहुत सी कथायें हैं, उनका निर्णय नहीं किया जा सकता, ये किस जनक की कथायें हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण भाग में एक बड़ी ही ज्ञान पूर्ण कथा है। वह इस प्रकार है।

एक बार महाराज जनक ने एक बड़ा भारी विपुल दक्षिणा-वाला यज्ञ किया। उस यज्ञ में दूर-दूर से बहुत से विद्वान ब्राह्मण एकत्रित हुए। कुरु पाञ्चाल देश के भी बहुत से नामी-नामी शास्त्र पारङ्गत ब्राह्मण आये। उन सब को महाराज ने दान तथा मान से सन्तुष्ट किया। अब राजा को यह जिज्ञासा हुई, कि इन समस्त ब्राह्मणों में से पूर्ण ब्रह्मज्ञानी कौन सा ब्राह्मण हैं। ऐसे वे किस प्रकार कहें, कि आप सब में श्रेष्ठ कौन है। फिर सभी तो अपने को श्रेष्ठ समझते हैं।-इस बात की परीक्षा करनी चाहिये।"

यह सोचकर राजा ने अत्यन्त ही सुन्दर एक सहस्र गौएँ मँगवाई। वे सबकी सब तरुणी थी। सब दूध देने वाली थीं। सभी पुष्ट थीं। सभी के सींग सुवर्ण से मढे हुए थे। सभी स्वस्थ और सीधी थीं। उन गोओं को खड़ी करके राजा ने कहा—"ब्राह्मणों! आप सबमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन समस्त गौओं को ले जाय।"

इतना सुनते ही समस्त ब्राह्मण एक दूसरे का मुख ताकने लगे किसी का भी साहस न हुआ, कि उन गौओं के समीप जाय। सबको सभ्रम तथा असमञ्जस में पड़े देखकर महा-मुनि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी से कहा—"वत्स! इन सब गौओं को अपने आश्रम की ओर हॉक ले चलो।"

-शिष्य, सामश्रवा ने अपने सद्गुरु की आज्ञा का पालन

किया। वह समस्त गौओं को हाँकर ले चला। याज्ञवल्क्य के द्वारा गौओं को ले जाते देखकर वहाँ आये हुए समस्त ब्राह्मण परम कुपित हुए। इसमें उन्होंने अपना बड़ा भारी अपमान समझा। उनमें से महाराज जनक के होता अश्वल ने कहा—"याज्ञवल्क्य! क्या हम सबमें एक मात्र तुम ही ब्रह्मज्ञानी हो ?"

याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"विप्रवर! ब्रह्मनिष्ठ को तो हम प्रणाम करते हैं। हम तो गौओं को ले जाने वाले हैं। इस पर उस सभा में जितने भी विद्वान् बैठे थे, उन सबने भगवान् याज्ञवल्क्य से प्रश्नों की झड़ी लगा दी, पहिले अश्वल ने ही प्रश्न किया। उन सबका याज्ञवल्क्य मुनि ने यथोचित उत्तर दिया। तदनन्तर जरत्कारु आर्तभाग ने प्रश्न किये। फिर क्रमशः लाह्यायनि भुज्यु मुनि ने, चक्रायणउपस्त मुनि ने, कौषीतकेय कहोलने वचक्नु की पुत्री ब्रह्मवादिनी गार्गी ने, अरुणि उद्दालक ने तथा शाकल्यविदग्ध ने उनसे प्रश्न पूछे। उन सब प्रश्नों का उत्तर भगवान् याज्ञवल्क्य ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता के साथ दिया महाराज जनकके भी याज्ञवल्क्य से प्रश्नोत्तर हुए। महाराज इनकी ब्रह्मनिष्ठातथा अध्यात्म्य ज्ञान को देखकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने याज्ञवल्क्य को आत्मसमर्पण कर दिया। अपना धन, जन, राज्य तथा सर्वस्व मुनि के चरणों में अर्पित कर दिया। तब से याज्ञवल्क्य जी इस कुल से ज्ञान दाता गुरु हुए।

जिस प्रकार इक्ष्वाकु वंश के कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ थे, उसी प्रकार जनक वंश के कुल गुरु गौतम थे। गौतम मुनि के पश्चात् उनके पुत्र शतानंद जनक वंश के सब धार्मिक कृत्य कराते थे। जनकवंशीय राजाओं में एक से एक बढ़कर ज्ञानी और योगी हुए हैं। ये सब के सब निरभिमानी और आत्मविद्या में निपुण होते थे। इनके यहाँ सदा अध्यात्म चर्चा होती थी, उप-

निषदों में कथा है कि किसी राजा के पास जाकर किसी मुनि ने धन माँगा, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"ब्रह्मन् आपने मुझसे माँग कर बड़ी कृपा की, मुझे भी आपने गौरव दिया। नहीं तो संसार में जनक बड़े दानी हैं, जनक बड़े ज्ञानी हैं, यही सर्वत्र प्रसिद्ध है।" इससे पता चलता है कि अन्य राजा इनके दान की प्रशंसासुनकर डाह करते थे।

इनके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी कथायें प्रचलित हैं, जिनमें यह सिद्ध किया गया है कि जनक घर में रहते हुए भी कैसे निस्पृह रहते थे। उन कहानियों में से कुछ का उल्लेख हम यहाँ करते हैं।

(१)

एक बार किसी मुनि ने जनक से पूछा—"आप राज्य पाट करते हुए भी विदेह कैसे कहलाते हैं। राज्य के प्रबन्ध में तो बड़ी चिन्तायें रहती हैं किसी को दंड देना पड़ता है। निग्रह करने में द्वेषभाव हो ही जाता है। इतने सबसे निमुक्त कैसे बने रहते हैं ?'

महाराज जनक ने कहा—'ब्रह्मन्! आप कुछ काल यहाँ निवास करें, तब मैं इसका उत्तर दूँगा।"

मुनि रहने लगे। राजा ने एक बार कहा—'ब्रह्मन्! क्या आप दुग्ध के भरे कटोरे को लेकर सम्पूर्ण बाजार में घूम सकते हैं ?"

मुनि ने कहा—"इसमें कौन सी चतुरता है। कोई भी घूम सकता है ?"

राजा ने कहा—इसमें यही सावधानी रखनी होगा, कि एक बूँद भी दूध न गिरने पावे।"

मुनि ने कहा—"न गिरेगा।"

राजा ने कहा - यदि गिर जाय तो ?"

मुनि ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"गिर जाय, तो आप जो उचित समझें दंड दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है आप कटोरे को लेकर चलें, चार सिपाही खड्ग लेकर आपके पीछे चलेंगे। जहाँ भी एक बूँद दूध गिर जायगा, वहीं आपका सिर धड़ से पृथक् कर दिया जायगा।"

मुनि ने स्वीकार किया। एक कटोरा दुग्ध से लबालब भर दिया गया। वह कटोरा इतना भर गया, कि इसमें कुछ भी भरने को स्थान न रहा। तनिक सी ठेस लगते ही वह छलक पड़े। उसे बड़ी युक्ति से मुनि के हाथ पर रख दिया गया, चार सिपाही आगे चार पीछे नंगी तलवार लिये चले। मुनि ने अपना समस्त ध्यान उस कटोरे में जमा लिया, पैर इतनी बुद्धिमानी से उठाते थे, कि कोई भी अंग हिलने नहीं पाता था। वे निरन्तर इस बात का ध्यान रखते थे, कि कटोरा हिलने न पावे। इस प्रकार शनैः शनैः वे सम्पूर्ण राजपथ पर घुमाये गये। एक भी बूँद दूध न गिरा जब वे लौटकर आये तो राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! मेरी नगरी का बाजार कैसा है ? आप तो सर्वत्र घूम आये हैं। इन बाजारों में सर्वश्रेष्ठ कौन सा हाट आप को अच्छा लगा।"

मुनि ने कहा—"राजन! मुझे तो कुछ भी पता नहीं। मैंने तो आपकी दुकानें देखा ही नहीं।"

राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"ब्रह्मन! आप कैसी बातें कह रहे हैं। आप अभी सम्पूर्ण बाजार के बीच से होकर आ रहे हैं। आँखें भी आप की खुली थीं। बाजार भी खुला था, फिर आप क्यों नहीं देख सके ?"

मुनि ने कहा—"राजन! केवल निरखने-से ही क्या होता

है, ऑखे भले ही खुली रहे, जब तक मन का उनसे सयोग न होगा, तब तक खुली रहने पर भी ऑखें नहीं देख सकतीं। मेरा मन तो उस कटोरे के दूध में लगा था। मुझे तो सर्वथा यही ध्यान रहता था, कि इसमें से एक भी बूँद दूध न गिरने पावे। यदि तनिक भी मेरी दृष्टि इधर-उधर होती, तो तुरन्त दूध छलक जाता, अत: बाजार मे होकर जाने पर भी मैं उसके रस का आस्वादन न कर सका, उसके सौन्दर्य को न निहार सका।"

इस पर राजा बोले—"ब्रह्मन्! इसी प्रकार में भी राज्य का उपभोग करते हुए, उन विषयों मे आसक्त नहीं होता। व्यवहार मे शरीर के फँसे रहने पर भी मन सदा परमार्थ में लगा रहता है। मैं सदा इस बात का ध्यान रखता हूँ, कि मेरा मन विषयो मे न फँसे।" यह सुनकर मुनि प्रसन्न हुए और राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके इच्छानुसार अन्यत्र चले गये। इसी प्रकार की एक और भी कथा है।

(२)

किसी मुनि ने आकर जनक जी से पूछा—"राजन्! इन ससारी विषयों में तो बड़ा आकर्षण है। इनके स्मरण से ही मन पागल हो जाता है। फिर आप के यहाँ तो एक से एक सुन्दरी रानियाँ है। उनका एकान्त मे आप सग भी करते हैं, फिर भी उन मे आप आसक्त क्यों नहीं होते?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप भोजन कर लें, तब प्रश्नोत्तर होंगे?"

मुनि ने यह बात स्वीकार की। आज राजा ने अपने पाचकों से कहकर बडे सुन्दर-सुन्दर पदार्थ बनवाये। ५६ प्रकार के भोग तैयार कराये। सुवर्ण के थालों मे उन्हें सजाया गया। मुनि के लिये सुन्दर आसन बिछाया गया। मुनि उस आसन पर बैठ गये,

परसे हुए थाल लाये गये, उन्होंने ऊपर देखा, सिर के ऊपर कच्चे धागे में एक तलवार लटक रही है। मुनि को मन ही मन बड़ा भय लगा, किन्तु संकोच वश कुछ बोले नहीं। शीघ्रता से भोजन करने लगे। उनका ध्यान तो तलवार की ओर लगा था। राजा बार-बार आग्रह कर रहे थे। "महाराज! यह वस्तु लें, यह लें, मुनि हाँ हूँ कर देते, जैसे तैसे वे भोजन करके उठ पड़े। राजा ने स्वयं हाथ धुलाये और पूछा—"ब्रह्मन्! अमुक साक कैसा बना था, खीर में मीठा कम तो नहीं था?"

मुनि ने कहा—"राजन्! सत्य बात तो यह है, कि मुझे तो पता ही न चला, मैंने क्या खाया है?"

राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! षड्रस युक्त सुन्दर-सुन्दर व्यजन थे, उनका आपके जिह्वा के साथ संसर्ग भी हुआ, फिर भी आपको उनके स्वाद का भान नहीं हुआ, यह कैसी बात है।"

मुनि ने कहा—"भान तो तब होता जब मेरा मन उन स्वादिष्ट पदार्थों में आसक्त होता। मेरा मन तो ऊपर लटकती हुई तलवार में फँसा था, इसलिये खाता तो गया, किन्तु उनके स्वाद का पता नहीं चला।"

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! यही दशा मेरी है। मेरा मन तो सदा परब्रह्म में फँसा रहता है। ऊपर से इन संसारिक विषयों का उपभोग करता हूँ। इसीलिए मैं इनसे सर्वथा निस्संग बना रहता हूँ, मेरी इनमें आसक्ति नहीं। इन्द्रियाँ इन्द्रियों में वर्त रही हैं।" यह सुनकर मुनि प्रसन्न होकर चले गये। ऐसी ही एक दूसरी कथा है।

(३)

कोई ऋषि थे, वे अपने शिष्य को समझा रहे थे, कि मन ही

बन्धन और मोक्ष का कारण है, यदि मन विषयों में फँसा है, तो चाहें जितने भी घोर वन में चले जाओ, वहाँ भी बन्धन है और यदि मन विशुद्ध है, तो विषयों के बीच में रहते हुए भी कोई बन्धन नहीं, राजा जनक राज्य पाट करते हुए भी विदेह हैं।"

शिष्य ने पूछा—"गुरुदेव ! इन विदेह राजा की सभी प्रशंसा करते हैं, इनमें ऐसी क्या विशेषता है ? क्यों बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष विदेह का ही दृष्टान्त देते हैं ?"

गुरु ने कहा—'उनमें यही विशेषता है, कि उनका मन विषयों में रहते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता। तुम जाकर इस विषय को उनसे ही पूछो, चलो मैं भी चलता हूँ।'

यह कहकर गुरु शिष्य को संग लेकर मिथिलापुरी में गये। उस समय राजा अन्त पुर में थे। योग दृष्टि से उन्हें गुरु शिष्य के आगमन का पता लग गया था। वे एकान्त में अपनी पटरानी के सहित शैया पर शयन कर रहे थे। गुरु बाहर ही खड़े रहे। शिष्य को अंत.पुर में भेजा, वहाँ एक से एक सुन्दरी स्त्रियाँ इधर से उधर छम्म-छम्म करती हुई घूम रही थीं। शिष्य को बड़ा संकोच हुआ। उन्हें भय भी लगा मेरा मन चंचल न हो जाय, अतः उन्होंने सिर नीचा किये ही किये राजा का पता पूछा—"सुन्दरी स्त्रियों ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! महाराज अन्तःपुर में हैं, आपके लिये तो कोई रोक टोक है ही नहीं आप भीतर चले जायँ। शिष्य यह सुनकर भीतर गये। राजा को रानी के साथ शैया पर देखकर शिष्य के मन में बड़ी घृणा हुई। राजा का एक हाथ पलंग के नीचे लटक रहा था, एक महारानी के वक्षःस्थल पर रखा हुआ था। शिष्य तुरन्त ही लौट आया और आकर गुरु से बोला—"भगवन् ! आपने कैसे विषयी के समीप मुझे भेजा ? वह तो सर्वथा विषयासक्त ही नहीं निर्लज्ज भी है।

मुझे देखकर उठा भी नहीं। वह भला मुझे क्या उपदेश देगा।" गुरु ने कहा—"अच्छी बात है मेरे साथ चलो।" यह कहकर गुरु शिष्य को लेकर पुनः अन्तःपुर मे गये। राजा का जो हाथ पलग से नीचे लटक रहा था, उसके ऊपर उन्होंने एक जलता हुआ अगार रख दिया। राजा के मुख मडल पर उस अगार से कोई भी विकार नही हुआ, जेसे महारानी के वक्षःस्थल पर हाथ रखे थे वेसे ही हाथ पर अग्नि को रखे रहे। तब गुरु ने कहा—"जनक की यही विशेषता है। इनके लिये कामिनी का कमनीय अग तथा अगार इसमे कोई अन्तर नहीं। सर्प और हार मे मिट्टी और सुवर्ण में इन्हे कुछ भी भेद नही। इनका मन सदा परब्रह्म मे लीन रहता है। शरीर से अनासक्त होकर ये सब कार्य करते हैं।" गुरु की ऐसी बात सुनकर शिष्य का भ्रम दूर हुआ। उन दोनों ने महाराज जनक का अभिनन्दन किया। जनक ने भी उनका सत्कार किया। ऐसी ही एक और कथा हे।

(४)

किसी मुनि ने आकर कहा—"विषय समीप रहने से उनमे ममत्व हो ही जाता हे। विषयों के त्याग से ममत्व छूट जाता हे। अतः आप इन विषयों को छोडकर वन मे वास क्यो नहीं करते। राज्य की इन वस्तुओ मे आपको कुछ न कुछ आसक्ति तो होगी ही।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! आप कुछ दिन मेरे यहाँ निवास करें, तब आपको स्वतः ही पता चल जायगा।" राजा की बात मानकर मुनि राजा के समीप ही रहने लगे। मुनि के पास बहुत समान तो था नहीं। चार लँगोटी, दड, कमडल, कथा, मृगचर्म और एक दो पुस्तकें इतनी ही वस्तुएँ थीं। समीप के एक भवन में

ये सब वस्तुएँ रखी थीं। उन सब वस्तुओं को रखकर वे सभा मे जाते, वहाँ भाँति-भाँति की ज्ञान चर्चा सुनते। बहुत से व्याख्या करने वाले सूत्रों की व्याख्या करते, निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा होती रहती। एक दिन राजा ने अपने योग प्रभाव से महल मे आग लगा दी। धू धू करके महल जलने लगा। सब इधर-उधर हाय-हाय करके भागने दौड़ने लगे। सर्वत्र कोलाहल मच गया। वे मुनि भी वहीं बैठे थे, उन्होंने देखा जिस भवन में मैं ठहरा हूँ, आग तो उसके समीप के ही भवन मे लग रही है। तुरन्त उन्हे ध्यान हुआ—"कहीं मेरे दण्ड कमण्डल तथा लँगोटी कंथा आदि न जल जायँ।" वे दौड़े गये और उन वस्तुओं को निकालकर बाहर लाये। इतने में ही आग बुझ गई।

हँसते हुए राजा मुनि के समीप आये और बोले—"ब्रह्मन्! सभी लोग आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। राजा को हाथी घोड़ा, रथ, सैनिक, धन आदि की आवश्यकता है, इसलिए वह इनका संग्रह करता है और साधु को दंड, कमंडल, कोपीन कंथा तथा मृगचर्म मे आसक्ति है। आसक्ति तो दोनों की बराबर ही है संग्रही दोनो ही हैं, यदि संग्रह करके भी उसमे आसक्ति न हो तो चाहे वन में रहें या घर में दोनो ही उसके लिए समान हैं। यद्यपि मैं राज्य करता हूँ, फिर भी चाहें सम्पूर्ण मिथिलापुरी जल जाय, मुझे इसकी तनिक भी चिंता न होगी, देखिये मेरे सामने मेरे महल जलते रहे, मैं तो चुपचाप बैठा रहा, किन्तु आप तो अपने दंड कमंडल की ही रक्षा के लिए व्यग्र हो गये और भागकर उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो गये। अब आप ही बताइये, कि आपका संग्रह बन्धन का हेतु है या मेरा?" यह सुनकर मुनि लज्जित हुए और बोले—"राजन्! आप ही यथार्थ त्यागी हैं।" ऐसा कहकर और राजा के प्रति सत्कार प्रदर्शित

करके मुनि चले गये। इसी प्रकार एक ब्राह्मण के साथ भी महाराज जनक का सम्वाद हुआ।

एक बार किसी अपराधी ब्राह्मण को राजा जनक ने दंड दिया और कहा—"तुमने ऐसा अपराध किया है, कि तुम मेरे राज्य में रहने योग्य नहीं हो। अभी मेरे राज्य से निकल जाओ।"

राजा के वचन सुनकर ब्राह्मण ने राजा से पूछा—"राजन्! आप मुझसे वही विषय कहें, जो आपके वशवर्ती हो। आप कहते हैं, मेरे राज्य से निकल जाओ; तो कितना राज्य आपका है, जिसे छोड़कर मैं दूसरे के राज्य में चला जाऊँ।"

ब्राह्मण के ऐसे गूढ़ प्रश्न को सुनकर राजा चिंता में पड़ गये। वे कुछ देर सोचते रहे। ये सोचकर बोले—"विप्रवर! मेरा क्या है, इस बात पर मैंने बहुत विचार किया। यह राज्य, पाट, धन, जन, स्त्री, परिवार तथा अन्य विषय क्या मेरे हैं। बहुत विचारने पर भी मैं इसका निर्णय न कर सका। अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा, कि या तो कोई भी विषय मेरे नहीं हैं, या संसार के समस्त विषय मेरे ही हैं।"

हँसकर ब्राह्मण ने पूछा—"आपके ही हैं या और किसी के भी?"

राजा ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! जैसे मेरे हैं वैसे ही दूसरे के भी।"

ब्राह्मण ने कहा—"जब सबके ही हैं, तो फिर आप यह कैसे कहते हैं; मेरे राज्य से निकल जाओ। अन्यत्र चले जाओ।"

राजा बोले—"हाँ, भगवन! यह मेरी भूल हुई, आप स्वेच्छा-पूर्वक जहाँ चाहें रहें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! यह राज्य तो आपकी पैतृक सम्पत्ति है। इस पर वंश परम्परा के अनुसार आपका अधिकार है। फिर

आप इसे अपना क्यों नहीं मान रहे हैं। क्या समझकर आपने इस पर से अपनी ममता हटा ली है ?"

राजा जनक ने कहा—"ब्राह्मन ! चाहे मनुष्य अपने को धनी समझे या निर्धन, बली समझे या निर्बल, कुलीन, समझे या अकुलीन, सुरूप समझे या कुरूप, जितनी भी अवस्थायें हैं, सभी नाशवान हैं। जब सभी नाशवान हैं, तब इन्हें अपनी समझना मूर्खता है, इसीलिए मेरी किसी भी विषय में ममता नहीं। ममता वश ही मनुष्य समझता है, यह मेरी वस्तु है, यह दूसरे की। ममता न हो, सम्पूर्ण भूतों में उसी आत्मा को समझे तथा आत्मा में ही सबको समझे तो फिर मनुष्य, मैं मेरे के चक्कर में क्यों फँसेगा ?"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"अच्छा, यह तो ठीक है, किन्तु आपने कहा—"समस्त विषय मेरे हैं और जिस प्रकार मेरे हैं, उसी प्रकार दूसरे के भी हैं, सो किस प्रकार ?"

राजा ने कहा—"देखिये ब्राह्मन ! शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जितने भी ये इन्द्रियों के विषय हैं, उन सबका संयोग मेरी इन्द्रियों के साथ होता है, किन्तु इन्हें मैं अपने लिये नहीं चाहता। इन पर मैंने विजय प्राप्त कर ली है। मेरे द्वारा निर्जित विषय और इन्द्रियाँ मेरे अधीन हैं। मैं जो भी कुछ करता हूँ, अपने निमित्त नहीं करता। जितने द्रव्य एकत्रित करता हूँ देवताओं के लिये, पितरों के लिये, अतिथि अभ्यागतों के लिये, प्रजाजनों के लिये, तथा समस्त प्राणियों के लिये करता हूँ। इसलिये सभी विषय मेरे हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, मेरे ही राज्य में रहेंगे। अतः अब मेरा आग्रह नहीं है, कि आप अमुक स्थान को छोड़कर अमुक स्थान में चले जायँ। आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं रहें।"

यह सुनकर ब्राह्मण खिल-खिलाकर हँस पड़ा और बोला—

"राजन ! जैसी मैंने आपकी प्रशंसा सुनी थी, आप वैसे ही निकले। मैं वास्तव मे ब्राह्मण नहीं, साक्षात् धर्मराज हूँ। मैं यहाँ ब्राह्मण का वेष बनाकर आपकी परीक्षा लेने ही आया था। आप ही एक ऐसे हैं, जो ममता से रहित ज्ञानरूपी प्रवृत्ति का अरित्र बनाये हुए हैं।" इतना कह कर धर्मराज वहीं अन्तर्धान हो गये।

सूतजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार एक नहीं अनेकों कथायें विदेह राजा के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। राजाओं के सम्बन्ध की ही नहीं विदेहराज की रानियों के सम्बन्ध की भी ऐसी हो कथाएँ हैं। कोई विदेह राजा सन्यासी बन गये थे, इस पर उनकी रानी ही उन्हें उपदेश देकर लौटा कर घर लाई थीं।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! इस प्रसंग को भी हमें सुनाइये। इन कथाओं के श्रवण करने में हमारा बड़ा मन लगता है। इनसे बड़ा बोध होता है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज ! सुनिये मैं इस प्रसङ्ग को भी सक्षेप मे सुनाता हूँ।

एक बार महाराज जनक को राज-पाट से महान वैराग्य हुआ। वे घर-द्वार राज-परिवार सभी को छोड़ छाडकर वन में चले गये। उन्होंने सोचा—"मैं राज्य के प्रपच मे फँसकर क्या करूँगा। मूड मुडाकर भिक्षोपजीवी बनकर अपना शेष जीवन त्यागमय बिता दूँगा।" यही सोचकर वे वन चले गये। वहाँ निःसंग होकर एकान्त में कुटी बनाकर रहने लगे और मुट्ठी भर भुने जव खाकर निर्वाह करने लगे। इससे सभी प्रजा के लोग दुखित हुए। किसी का साहस राजा से कुछ कहने का नहीं हुआ। यह देखकर राजा की परम बुद्धिमती राजमहिषी राजा के समीप गई और निर्भय होकर कहने लगी—"राजन् ! आप यह क्या खेल कर रहे हैं ?"

राजा ने कहा—"त्याग के बिना विषयासक्ति नहीं छूटती। विषयासक्ति बिना छूटे ज्ञान नहीं होता। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं। इसलिए मैंने सबका त्याग कर दिया है।"

रानी ने पूछा—"आपने त्याग किस वस्तु का किया है?"

राजा ने कहा—"मैंने संग का त्याग किया हैं। राज्य, धन, ऐश्वर्य का त्याग किया है?"

रानी ने कहा—"राज्य की समस्त वस्तुएँ पंच भूतात्मक है। क्या आप पृथ्वी पर अब नहीं रहते। महल और झोपडी में अंतर ही क्या है? क्या आपने जल का त्याग कर दिया है? क्या यहाँ आप स्वास नहीं लेते, वायु नहीं पान करते? क्या आपने प्रकाश को छोड दिया? यहाँ आप आकाश के नीचे नहीं रहते.? जब पाँचो भूत जैसे वहाँ थे, वैसे यहाँ हैं, तब इनमें त्याग किस वस्तु का किया है? वहाँ आपके आस-पास मंत्री पुरोहित सैनिक तथा सेवक आदि रहते थे, यहाँ पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग रहते हैं। इससे संग का भी परित्याग नहीं हुआ।"

राजा ने कहा—"मैंने परिग्रह का तो त्याग कर ही दिया है?"

रानी ने कहा—"परिग्रह का त्याग कहाँ किया? मध्याह्न काल में भूख लगने पर एक मुट्ठी भुने जव के लिये तुम्हें नगर की ओर दौडना ही पडता है, उसकी चिंता रहती ही है। पहिले जहाँ आप देते थे वहाँ अब स्वयं याचक बन गये हैं। पहिले आप राज्य का पालन करते थे, उसकी देख रेख रखते थे, अब आप दंड, कमण्डल, कंथा और कौपीन की देख रेख रखते हो। तुम्हारी इन आवश्यक वस्तुओं को कोई नष्ट कर दे, तो तुम्हें दु:ख होगा ही। फिर राज्य त्याग से लाभ क्या हुआ? ममता ही बन्धन का कारण है। यदि आपकी ममता छूट जाय, तो आप जहाँ भी रहें वहीं त्यागी हैं। यदि ममता नहीं छूटी देखा देखी

काषाय वस्त्र, दंड, कमण्डल धारण कर लिए तो यह तो ढोंग है, दंभ है, छल है, अपने आपको ठगना है। राजन्! आप आलसी लोगों की भाँति अकर्मण्य न बनें। अकर्मण्य हाथी को भी चींटियाँ खा जाती है। मूर्ख लोग ही कर्म छोड़कर झूठा वेष बना कर बाबाजी बन जाते हैं और आलस्य मे अपना सम्पूर्ण समय बिताते हैं। आपको यह शोभा नहीं देता। जैसे आप सहस्रों का देकर खाते थे, वैसे खाइये। प्रजापालन रूप कर्म को कर्तव्य बुद्धि से कीजिये। देवता, पितर तथा अतिथियों को सन्तुष्ट कीजिये। फल की इच्छा न रखकर निष्काम भाव से कर्म करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी राजमहिषी के ये वचन सुनकर राजा का मोह दूर हुआ। उन्होंने संन्यासी बनने का विचार छोड़ दिया और वे घर मे आकर निष्काम भाव से सभी राज्य कार्यों को करने लगे। सो महाराज जिस प्रकार जनक वंशीय राजा ज्ञानी थे, उसी प्रकार उनकी रानियाँ भी अध्यात्म विद्या मे निष्णात थीं। महाराज जनक मुनियों के माननीय थे। यहाँ तक कि समस्त मुनियों के गुरु भगवान् शुकदेवजी ने भी उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। मुनियो! इस प्रकार जनक मेरे गुरु के भी गुरु अर्थात् बाबागुरु थे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! श्री शुकदेव जी ने जनकजी को गुरु कैसे बनाया और जनकजी ने उन्हे कैसा उपदेश दिया। कृपा करके इस उपाख्यान को आप हमें सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव राजर्षि जनक के यहाँ शिक्षा लेने गये और जनकजी ने उन्हे जैसे उपदेश दिया, इस प्रसङ्ग को मैं संक्षेप मे सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

सूतजी मुनियों को जनक-शुक संवाद सुना रहे हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक जन्म से ही विरक्त तथा सर्व शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनको गृहस्थाश्रम आदि प्रवृत्ति मार्ग के कार्य अच्छे नहीं लगते थे। उन्होंने देवगुरु बृहस्पति जी से भी समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया था। जब समस्त शास्त्रों में पारगत हो गये, तो एक दिन उन्होंने अपने पिता भगवान व्यासजी से पूछा— "भगवन्! आप मोक्षधर्म के ज्ञाता हैं, कृपा करके मुझे मोक्षधर्म का उपदेश दें।"

व्यासजी यह सुनकर परम प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने सोचा—"अपना पुत्र अपने से नहीं पढता, उसे पढाने के लिए दूसरे अध्यापक के निकट भेजना पडता है। हम इसे बतावेंगे, तो इसकी श्रद्धा न होगी। बिना श्रद्धा के फल नहीं होता। अतः इसे परमज्ञानी विदेह महाराज जनक के समीप भेजना चाहिये।" यह सोचकर वे बोले—"वत्स! इस प्रश्न का मैं उत्तर नहीं दे सकता। तुम महाराज विदेह जनक के समीप जाओ। वे तुम्हारे सभी संशयों का छेदन करेंगे।"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"पिताजी आप ही मुझे उपदेश क्यों नहीं देते?"

व्यासजी ने कहा—"वत्स! वे ही इस विद्या में पारगत हैं। बड़े-बड़े ऋषि मुनि, उनके ही समीप इस विद्या को जानने के निमित्त जाते हैं। तुम शीघ्र उनके समीप जाओ।"

श्रीशुक बोले—"पिताजी मैं योग द्वारा आकाश मार्ग से क्षण भर में मिथिला पहुँच सकता हूँ।"

व्यासजी ने कहा—"न भया! ज्ञान सीखने के लिए निर-भिमान होकर जाना चाहिए। मोक्षधर्म के जिज्ञासु को साधारण भाव से गुरु के समीप जाना चाहिए। तुम पैदल ही महाराज

के समीप जाओ। वहाँ जाकर तुम अपने इष्ट मित्रों की खोज न करना, महाराज जो भी कहें उसे मानना, उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट मत करना और उनसे मान की भी अभिलाषा न रखना।"

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके सम्याप्रास से श्री शुकदेव मिथिलापुरी के लिये चले। वे बद्रीनाथ से विष्णुप्रयाग, नंद प्रयाग, देवप्रयाग तथा ऋषिकेश वाले मार्ग से नहीं गये। कलाप ग्राम से वे सरस्वती नदी के किनारे-किनारे ऊपर चढ़े। काकभुसुंड पर्वत की चोटी के समीप से नीचे हूणदेश (तिब्बत) में आये। मेरुवर्ष से होकर वे मानसरोवर कैलाश होकर अलमोड़ा के रास्ते से नीचे उतरे, फिर सरयू के किनारे-किनारे गंगाजी के किनारे आये; वहाँ से मिथिलापुरी में पहुँचे। मार्ग में उन्हें हूणिया तथा चीनी जाति के बहुत से नगर मिले। सबने दिगम्बर शुक का सत्कार किया। विदेह राज्य को देखकर शुकदेवजी परम प्रमुदित हुए। वह देश धन धान्य से भरा पूरा था। वहाँ की भूमि उपजाऊ थी, हरे हरे धानों के खेत खड़े थे। उस समृद्धिशाली देश को देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। मिथिलापुरी में एक से एक अद्भुत वस्तु थी। वहाँ के वन उपवन परम रमणीक थे। नगर नाना प्रकार से सजाया गया था। किन्तु शुकदेवजी ने उन सब वस्तुओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे इन सबकी ओर बिना ध्यान दिये मिथिलापुरी के नगर के द्वार पर पहुँचे। वे नगर के द्वार से प्रवेश कर ही रहे थे, कि द्वारपाल ने उन्हे भीतर जाने ही नहीं दिया। यह शुकदेवजी का महान् अपमान था, किन्तु वे सच्चे जिज्ञासु थे। आजकल तो कोई साधु दर्शन को जाते हैं और यदि साधु भजन पूजन में हो, कुछ देर बैठना पड़े, तो बड़े क्रुद्ध होते हैं। खरी खोटी सुनाते हैं और क्रुद्ध होकर लौट भी जाते हैं। शुकदेवजी ने ऐसा नहीं किया; वे शान्त भाव से द्वार पर

खड़े रहे। जब राजाज्ञा प्राप्त हो गई, तब द्वारपाल ने उन्हें भीतर जाने दिया। नगर में प्रवेश करके शुकदेवजी राजमहल की ओर चले महल के द्वार की प्रथम ड्योढ़ी से वे ज्यों ही घुसे त्यों ही द्वारपाल ने डांटकर उनसे कहा—"आप बिना पूछे नंगे धड़ंगे भीतर कहाँ जा रहे हैं ?"

शुकदेवजी ने कहा—"मुझे महाराज जनक से मिलना है। उन्हीं के समीप जा रहा हूँ।"

द्वारपाल ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"राजा से ऐसे मिला जाता है। अभी भीतर जाने का समय नहीं है।"

यह सुनकर शुकदेवजी तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए। वे चुपचाप खड़े रहे। वे धूप में ही बैठकर आत्म चिन्तन कर रहे थे। इतने ही में मन्त्री आया, वह उन्हें सत्कार पूर्वक दूसरी ड्योढ़ी पर ले गया। इस सत्कार से भी शुकदेवजी को कोई हर्ष नहीं हुआ। वे चुपचाप मन्त्री के पीछे-पीछे चले गये।"

द्वितीय ड्योढ़ी में एक अत्यन्त ही सुन्दर अतिथिशाला थी। जिसमें राज्य के अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति ही ठहराये जाते थे। वे भवन भली भाँति सजाये गये थे। स्थान-स्थान पर सुन्दर स्वच्छ, शीतल सलिल वाले सुहावने सरोवर थे। जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। वहाँ की भूमि बड़ी ही सुहावनी थी। वहाँ अत्यन्त सुन्दर ५० युवती स्त्रियाँ सजी-धजी उपस्थित थी। श्री शुकदेवजी को देखकर वे सबकी सब उठकर खड़ी हो गईं। उन्होंने भगवान् व्यासनन्दन का स्वागत सत्कार किया। पाद्य, अर्घ्य, आसन देकर उनकी पूजा की। सुन्दर सलिल से उनको स्नान कराया। वे बहुत दूर से चलकर आ रहे थे। उनका श्रम विविध उपायों से दूर किया। बड़े रसयुक्त सुन्दर पदार्थ भोजन के लिए उनके सम्मुख उपस्थित किये। बड़े प्रेम से आग्रह पूर्वक

उन्हें भोजन कराया। भोजन करके श्रीशुक विश्राम करने लगे। ये युवतियाँ गाने बजाने तथा नृत्य आदि मे बड़ी प्रवीण थीं। वे भाँति-भाँति के शृङ्गार रस के गाने गाती रहीं। हाव भाव कटाक्ष प्रदर्शित करके नृत्य करती रहीं, किन्तु फिर भी शुकदेवजी के मन मे कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। वे शान्त भाव से स्थिर बैठे हुए ब्रह्म चिन्तन करते रहे। अर्ध-रात्रि तक वे ध्यान मग्न रहे, पुनः उन्होंने शास्त्रीय विधि से शयन किया। इस प्रकार एक दिन और एक रात्रि श्रीशुक उस विलास वैभव पूर्ण स्थान में निर्विकार भाव से रहे।

दूसरे दिन मिथिलेश अपने मंत्री पुरोहित और रानियों को साथ लेकर शुकदेवजी के समीप आये। उन्होंने आकर शास्त्रीय विधि से मुनि की पूजा की। सुन्दर सर्वतोभद्र आसन पर उन्हें बिठाया गा दान करके कुशल पूछी। पूजा कर चुकने के अनन्तर जब मुनि ने आज्ञा दी तो राजा हाथ जोड़े हुए बैठे। तब राजा ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपका पधारना किसी विशेष कारण से हुआ हो तो उसे मुझे बतावें।"

राजा के प्रश्न को सुनकर मुनि बोले—"राजन्! मेरे पिता ने मुझे आपके समीप प्रवृत्ति निवृत्ति विषयक समस्त सन्देहों को दूर करने भेजा है। उन्होंने मुझसे कहा था—"जनकजी मेरे यजमान हैं। वे मोक्षधर्म के ज्ञाता हैं, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं। उनसे जाकर मेरी ओर से कुशल पूछना और अपने संशयों को उनके समीप प्रकट करना। वे तेरे समस्त संशयों का छेदन कर देंगे।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मैंने तो जो भी कुछ सीखा है, आपके पूज्य पितृदेव भगवान् व्यास से ही सीखा है। उन्होंने किसी विशेष प्रयोजन से आपको मेरे समीप भेजा है। अच्छी बात है पूछिये आपको क्या पूछना है?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! यह बताइये इस लोक में ज्ञान की इच्छा वाले मुमुक्षु का क्या कर्तव्य है? मोक्ष का स्वरूप क्या है? मोक्ष प्राप्ति का साधन तप है या ज्ञान?"

यह सुनकर गम्भीरता पूर्वक राजा बोले—"ब्रह्मन्! आपके प्रश्न तो बहुत गूढ़ है, फिर भी मैं यथामति इनका उत्तर दूँगा। भगवन्! मोक्ष की इच्छा रखने वाला का जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पारमार्थिक कर्म करते रहना चाहिए। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में, गृहस्थ से वानप्रस्थ में और वानप्रस्थ से सन्यासाश्रम में जाना चाहिए।"

श्री शुकदेवजी ने पूछा—"राजन्! किसी को जन्म से ज्ञान हो गया हो, तो क्या उसे फिर भी ब्रह्मचर्य से गृहस्थ और गृहस्थ से वानप्रस्थ और सन्यास को धारण करना आवश्यक है?"

जनक ने कहा—"ब्रह्मन्! मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान विज्ञान के बिना नहीं होती। ज्ञान की प्राप्ति बिना गुरु सम्बन्ध के नहीं हो सकती। गुरु ही इस संसार सागर से पार पहुँचाने वाले हैं। ज्ञान ही सुदृढ़ नौका है। कर्णधार का काम गुरुदेव ही करते हैं। परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, अतः ज्ञानी भी चारों आश्रमों का पालन करते हैं। जिसका मन शुद्ध हो गया है, जो जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर चुका है उसे तीनों आश्रमों की आवश्यकता नहीं। वह तो परमहंस रूप में स्वेच्छानुसार विचरण कर सकता है क्योंकि उसके मन में कोई कामना ही नहीं। प्रवृत्ति मार्ग तो कामनाओं को मेंटने के लिए विषयों से विरक्त होने के निमित्त है। क्रम मार्ग का कथन है, ज्ञानी के लिए कोई क्रम नहीं। आप तो परम ज्ञानी हैं। जैसे अंधकारमय गृह दीपक से प्रकाशित होता है, वैसे ही बुद्धि रूप दीपक से आत्मा का साक्षात्कार होता है। आपको तो मेरे भी गुरु भगवान व्यास की कृपा से सभी विषयों

का ज्ञान हो गया है। इसीलिए आपका मन विषय वासना में रहित हो गया है। मुझे भी आपके पूज्य पिता के ही उपदेश से आत्मसाक्षात्कार हुआ है। मैंने परीक्षा करके आपको देख लिया। योग दृष्टि से मैं पहिले से ही जान गया था, कि आप आ रहे हैं, इसीलिये आपकी परीक्षा के निमित्त मैंने ये ढोंग रचे। आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। आपको अपने ज्ञान की थाह नहीं। आप जितना अपने को समझ रहे हैं, उससे कहीं अधिक आप ज्ञानी हैं। संशयवान पुरुष को ज्ञान भले ही हो जाय, किन्तु उसको मोक्ष नहीं हो सकता। शुद्ध उद्योग के द्वारा तथा गुरु के उपदेश को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करने से ही सभी संशय दूर हो जाते हैं, सभी बन्धन खुल जाते हैं। आप मोक्ष विद्या के अधिकारी हैं। आपको विषयों में स्वाभाविक रुचि नहीं। तुम्हारी सब में समदृष्टि है। तुम सुवर्ण और पत्थर को समान समझते हो। ब्राह्मणत्व का जो फल है तथा मोक्ष का जो स्वरूप है, वह तो तुम्हें प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त और आप क्या जानना चाहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव ज्ञानी तो जन्म के ही थे, जनक जी के वचनों से उन्हें मोक्ष-प्राप्ति का दृढ़ निश्चय हो गया। वे राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके यथेच्छ स्थान को चले गये। इस प्रकार महाराज जनक मेरे बाबा गुरु हैं। मेरे गुरु ने उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में जनक वंश के मुख्य-मुख्य राजाओं की कुछ कथायें कहीं। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने महाराज इक्ष्वाकु के विकुक्षि निमि और दण्डक ये तीन सबसे बड़े पुत्र बताये थे, उनमें

से विकुक्षि और निमि के वंश की कथा तो आपने सुनाई, अब महाराज दंडक के वंश की कथा और सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो! महाराज दंडक का तो वंश चला ही नहीं। वह तो शुक्राचार्य के शाप से सकुटुम्ब सपरिवार राज्य कोष तथा प्रजा के सहित भस्म हो गया। उसका सम्पूर्ण राज्य नष्ट हो गया। उसका राज्य बालुका मय वन गया।"

यह सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् शुक्राचार्य ने महाराज दडक को ऐसा घोर शाप क्यों दिया? क्यों उसके सम्पूर्ण राज्य को भस्म कर दिया? राजा ने ऐसा कौन सा घोर पाप किया था? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! इस कथा को सुनाकर अब फिर मैं उस शुभ्र चन्द्र-वंश का वर्णन करूँगा। जिसमें कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द प्रकट हुए।"

छप्पय

जनक वंशको विमल चरित अति सुखद सुनायो।
तिहि जगमहँ यश ज्ञान दानदैं विपुल कमायो॥
प्रकटीं आद्या शक्ति अमर कुल भयो भुवनमहँ।
करन जीव कल्यान फिरीं प्रभुसग वन वन महँ॥
यों विकुक्षि निमि वंश की, कही कथा अति सुखमयी।
दडक तीसर तनय की, सुनहु कथा अब दुखमयी॥

महाराज दण्डक की कथा

(७१७)

क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः ।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

सुत इक्ष्वाकु तृतीय गयो दण्डक वनमाँही ।
शुकसुता लखि भई विकलता अति मनमाँही ॥
अनुचित करि प्रस्ताव कुपित कन्या तिनि कीन्हीं ।
भये काम वश शिखा पकरि कन्या की लीन्हीं ॥
गुरु की कन्या द्विजसुता, निरजा संगमतैं रहित ।
बुद्धि, भ्रष्ट नृप की भई, करि अनुचित कीयो अहित ॥

मनुष्य जब काम-वश हो जाता है, तो अपना हित, अनहित कुछ भी नहीं सोचता। जिस पर आसक्ति हो जाती है, उसे पाने का प्रयत्न पुरुष प्राणों का पण लगाकर करता है। पतंग का दीपक की लोय से कोई कल्याण थोड़े ही होता है, किन्तु उसको इसमें आसक्ति है। प्राणों का मोह छोड़कर उसका आलिंगन करता है और अपने आपको भस्म कर देता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुजी के छींकने पर उनकी नासिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके १०० पुत्र हुए, उनमें विकुक्षि निमि और दंडक ये तीन सबसे बड़े प्रधान पुत्र थे।"

है। इस घटना से दूसरे पतंगे लाभ उठाते हों, सचेत हो जाते हों, सो बात नहीं। जो भी दिये की लोय के सम्मुख आता है, वही उसे आलिंगन करने दौड़ता है। काम के वश होकर किस कामी ने सुख पाया? रावण काम के अधीन होकर सीताजी को हर ले गया, इसके फलस्वरूप वह कुल सहित नष्ट हो गया। इन्द्र ने काम वश होकर अनुचित कार्य किया, जिससे उसका पद अस्थाई हो गया, शरीर विकृत बन गई, न जाने क्या दुर्दशा हुई। नहुप काम वश होकर स्वर्ग के साम्राज्य से च्युत होकर सर्प बन गया। चन्द्र काम वश होकर कुष्टि हुआ। ब्रह्माजी को काम-वश हरिन बनना पड़ा। शिवजी को लाज छोड़कर मोहनी के पीछे दौड़ना पड़ा, विष्णु को पापाण बनना पडा। भगवान् ने इस काम को उत्पन्न करके प्राणियो को काल के अधीन कर रखा है। यदि काम को जीत ले तो उसका काल कुछ कर ही नहीं सकता। विन्दुपात ही मरण है, विन्दुधारण ही जीवन है। काम-वेग ऐसा प्रबल होता है, कि उस समय बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। इन्द्रियाँ परवश सी हो जाती है। चित्त इतना प्रवल वेगशाली बन जाता है, कि विवेक कुछ काम नहीं देता। प्राणी विवश हो जाता है, आत्मविस्मृत बन जाता है। इन्द्रियों का विषयो के साथ जहाँ संसर्ग हुआ, कि फिर मन खो जाता है। जो आदमी जितना शक्तिशाली होता है, वह उतना ही साहस का कार्य कर सकता है, योगी जब योग से भ्रष्ट होकर काम के चक्कर में फॅसता है, तो वह जितनी निर्लज्जता से कामोपभोग करता है, उतनी निर्लज्जता से साधारण आदमी नहीं कर सकता। विद्या, धन, योग, सामर्थ्य तथा अन्य शक्तियों से युक्त पुरुष साधारण आदमियो से अधिक साहस का कार्य करता है। ऐसे पुरुषों को दंड भी अधिक से अधिक देना चाहिये। एक

आदमी है, जो नियम विधान नहीं जानता, उससे यदि अपराध हो जाय, तो वह क्षमा भी किया जा सकता है, किन्तु जो स्वयं विधान विशारद है, सभी नियम सदाचार को जानता है, यदि वह कोई अनुचित साहस करता है, तो उसे अधिक से अधिक दंड देना चाहिये, ऐसी इस देश मे सनातन प्रथा है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे इक्ष्वाकु के पुत्र दंडक की कथा पूछी है, मैं उसे सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज दडक पिता के आदेश से दक्षिण देश में राज्य करने लगे। राजा वैसे तो कुलीन थे, इन्द्रियाँ उनके वश मे नहीं थीं वे कामी थे, भगवान् शुक्राचार्य को उन्होने अपना पुरोहित बनाया।"

एक दिन महाराज घोड़े पर चढ़कर अरण्य को गये। संयोग की बात उसी समय शुक्राचार्य की कन्या विरजा वहाँ वन की शोभा देखने अकेली ही आई हुई थी। वह अभी कन्या थी, रजोदर्शन भी उसका नहीं हुआ था। वह इतनी सुन्दरी थी, कि स्वर्गीय अप्सरायें भी उसके सम्मुख लज्जित हो जातीं। वह पृथ्वी की लक्ष्मी सी जान पडती थी। बाल्यावस्था को पार करके उसने यौवनावस्था मे पदार्पण किया था। यौवन के चिन्ह अस्फुट रूप से उसके अगों मे प्रकट हो रहे थे। वह उस अर्धमुकुलिता कलिका के समान थी, जिसके समीप अभी भ्रमर आया न हो। जिसका सौरभ पराग अभी विस्फुटित न हुआ। वह अपनी नारी सुलभ चचलता से इठलाती हुई इधर से उधर घूम-घूमकर पुष्प चयन कर रही थी। राजा की उस अनवद्य सौन्दर्ययुक्त कन्या के ऊपर दृष्टि पड़ी। उसके अपार सौन्दर्य को देखकर दण्डक काम बाण से विद्ध हो गया। उसका मन उसके अधीन न रहा। वह

शीघ्रता से उसके समीप आया अत्यन्त ही स्नेह से अधीरता के स्वर में पूछने लगा—"भामिनी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? किसकी पत्नी हो ? तुम अकेली इस विजन वन में क्यों फिर रही हो ? तुम कमला हो या साक्षात् रति हो, तुम्हारे ये कोमल चरण इस योग्य नहीं हैं, कि तुम इस कठिन भूमि पर पर नंगे पैरों घूमो।"

यह सुनकर लजाती हुई शुक्रतनया ने कहा—"राजन् ! मैं भगवान् शुक्राचार्य की पुत्री हूँ। अभी मे अविवाहिता हूँ।"

राजा ने अधीरता के स्वर में कहा—"देवि ! मैं इस देश का राजा हूँ, तुम्हारे अधीन हूँ, मैं तुम्हारे सौन्दर्य पर मुग्ध हूँ, मैं अपने वश में नहीं हूँ। तुम्हें निमित्त बनाकर काम मुझे अत्यन्त पीड़ा दे रहा है। तुम मेरे ऊपर दया करो, मुझे प्राण दान दो।"

यह सुनकर कुपित हुई कन्या ने कहा—"राजन् ! ऐसे वचन आपको मुख से उच्चारण न करना चाहिये। वाणी से कौन कहे, ऐसी बात आपको मन से भी न सोचनी चाहिये। देखिये, आप राजा हैं, सबके पिता हैं, इस सम्बन्ध से मे पुत्री हूँ। आप मेरे पिता के शिष्य हैं। इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारी बहिन हूँ। फिर मैं विप्र कन्या हूँ, तुम क्षत्रिय हो, इस सम्बन्ध से मैं तुम्हारी पूजनीया हूँ। किसी भी प्रकार आपके मन मे मेरे प्रति बुरे भाव न होने चाहिये। कैसा भी कामी हो, पुत्री और बहिन के प्रति वह भी बुरे भाव मन मे नहीं लाता। इसलिये आप इस बात को मन से निकाल दें। आप मेरे पिता के आश्रम मे जायँ वे तुम्हारा आतिथ्य करेंगे।"

राजा ने कहा—"सुन्दरि ! मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं जानता हूँ, यह सम्बन्ध अनुचित है, किन्तु मेरा मन तुममे फँस

गया, मुझे तुम्हारे प्रति प्रेम हो गया है। प्रेम अंधा होता है, उसमें नियम रहता ही नहीं।"

कन्या ने कहा—"राजन्! आप प्रेम शब्द को कलंकित क्यों कर रहे हैं। यह तो आपका काम है, वह भी अधर्म पूर्वक अनुचित काम है। आप जान बूझकर हलाहल पान कर रहे हैं। मेरे समर्थ पिता को तुम्हारे भावों का पता भी लग जायगा, तो वे तुम्हारा सर्वस्व नाश कर देंगे। तुम अपना मृत्यु को अपने आप निमन्त्रण क्यों दे रहे हो। मैं अभी अपुष्पिता हूँ, अभी मैंने रजोदर्शन भी नहीं किया है, मैं सर्वथा अगम्या हूँ। अरजस्का कन्या के साथ संगम करना महान् पाप है। राजन्! अपना हित तुम स्वयं सोचो, क्यों तुम मृत्यु के मुख में जा रहे हो?"

राजा ने कहा—"वरवर्णिनी! एक वार मुझे तुम्हारा संगम प्राप्त हो जाय, फिर चाहे मुझे मरना ही पड़े, मैं मृत्यु को, राज्य को, धनको तुम्हारे सम्मुख तृण के सदृश भी नहीं समझता।"

कन्या ने डॉट कर कहा—"चल, हट। कुत्ता कहीं का। ऐसा अनुचित प्रस्ताव करता है।" यह कह कर वह शीघ्रता से चलने लगी। राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उसकी विचार शक्ति नष्ट हो गई थी, उसका काल उसे पाप में प्रेरित कर रहा था। उसने जाती हुई कन्या के केशपाशों को कस कर पकड़ लिया और उसके साथ बलात्कार किया। कन्या तपड़ती रही, रोती रही, किन्तु उस नरपिशाच ने कुछ भी ध्यान न दिया।

पीछे वह डर कर घोड़े पर चढ़ कर भाग गया। कन्या लज्जा से सिकुड़ी हुई रोती चिल्लाती अपने पिता के आश्रम पर पहुँची। वह अत्यन्त डर रही थी, उसकी श्री नष्ट हो गई थी। पिता ने उसकी दशा देखी, वे योग दृष्टि से सब कुछ समझ गये। राजा

के ऊपर उन्हें अत्यन्त ही क्रोध आया, मुनि की आँखों से आग निकलने लगी। उसी क्रोध के आवेश मे मुनि ने शाप दिया—"जिस क्रूरकर्मा नीच निर्लज्ज कामी राजा ने ऐसा जघन्य पाप किया है, उसका राज्य नष्ट हो जाय, उसके राज्य में एक भी पशु पत्ती न बचे। सात दिन तक तप्त बालू की वर्षा हो, वृत्त भी वहाँ न रहे, सम्पूर्ण राज्य बालुकामय अरण्य बन जाय।"

यह कह कर उन्होंने ऋषियों को आश्रम छोडकर अन्यत्र जाने की आज्ञा दी। अपनी कन्या से कहा—"तू यहीं पर घोर तप कर। मैं वर देता हूँ, तेरा यह आश्रम नष्ट न होगा। यहीं रह कर तपस्या करने से तू विशुद्ध हो जायगी।" यह कह कर मुनि कन्या को वहीं तपस्या के निमित्त छोड कर अन्यत्र दूसरे स्थान में चले गये। मुनि का शाप असत्य तो हो नहीं सकता। सात दिन सात रात्रि तक दडक के सम्पूर्ण राज्य मे तप्त बालू की वर्षा हुई। उसका राज्य पाट, कोष, सेना, मत्री सबके सब नष्ट हो गये। दडक का राज्य वन बन गया। वह वन उसी के नाम से दण्डकारण्य या दण्डक वनके नाम से विख्यात हुआ। बहुत दिनों तक वहाँ कोई पशु पत्ती भी नहीं रहे। पीछे से आकर मुनिगण वहाँ श्रीराम-दर्शनो की लालसा से कुटिया बना कर रहने लगे। वृत्त भी उत्पन्न हो गये। जब श्रीरामचन्द्रजी अवतार धारण करके सीताजी के सहित दण्डकारण्य मे पधारे तब उनकी चरणधूलि से वह अपावन वन परम पावन बन गया। वह शाप से मुक्त हो गया।

सूतजी कहते हैं-"मुनियो! इस प्रकार महाराज दडक का वश आगे नहीं चला। यह मैंने अत्यन्त सक्षेप में मनुवंशीय राजाओ के वंश का वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने सूर्यवंश की

कथा तो सुना दी। अब हम चन्द्रवश की कथा और सुनना चाहते हे। पृथ्वी म ये ही दो वश परम पावन कहे गये हैं। इस वश की उत्पत्ति कैसे हुई और मुख्य बात तो यह है, कि इस वश को कितनो पीढो के पश्चात् भगवान् कृष्णचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। हमारा मुख्य प्रश्न तो कृष्णचरित्र के लिये है। उसी के सम्बन्ध से हम चन्द्रवशीय अन्य मुख्य मुख्य पुण्यश्लोक राजाओं का भी चरित्र सुनना चाहते हैं। कृपा करके अब आप चन्द्रवश के राजाओं की कथाओं को कहे।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए सूतजी वोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं आप से चन्द्रवश का वर्णन करता हूँ, उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

लज्जित पितु ढिग गई शुक्रतनया जब रोवति।
दुहिता देखी दुखित कुपित तब भये शुक्र अति॥
दया शाप नृप राज नष्ट है जावे सबई।
बरसी बालू तप्त भयो दण्डकवन तबई॥
घोर पाप तें पलकमहँ, धूरि माँहि वैभव मिल्यो।
नष्ट भयो परिवार सब, फिरि दण्डक कुल नहिँ चल्यो॥